विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक ३ मार्च २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९
अंक ३

वार्षिक ५०/- **एक प्रति ५/-**

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — ७००/-

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(सत्रहवी तालिका)

६४०. विवेकानन्द विद्यापीठ, कच्चापाल, नारायणपुर (छ.ग.)
६४१. विवेकानन्द विद्यापीठ, ग्रा. कुन्दला, नारायणपुर (छ.ग.)
६४२. ग्रंथपाल, रामकृष्ण मिशन आश्रम, नारायणपुर(छ.ग.)
६४३. श्री जयन्त कुमार मैत्रा, सत्यम् चौक, भिलाई (छ.ग.)
६४४. श्री विनोद कुमार तथा प्रीति उपाध्याय, इलाहाबाद (उ.प्र.)
६४५. डॉ. श्रीमती मयंक पाठक, फाफाडीह, रायपुर (छ.ग.)
६४६. श्रीमती आभा तिवारी, शैलेन्द्र नगर, रायपुर (छ.ग.)
६४७. कु. कीर्तिबेन भट्ट, महिला कॉलेज, राजकोट (गुजरात)
६४८. डॉ. रूपनारायण, पी. जी. कॉलेज, बुलन्दशहर (उ.प्र.)
६४९. श्री मोहनलाल पन्सारी, कंकालीपारा, रायपुर (छ.ग.)
६५०. श्री शंकर लाल वर्मा, पो चॉदखुरी, रायपुर (छ.ग.)
६५१. डॉ. एस. बी. गहरवार, मेन रोड, बुलढाणा (महाराष्ट्र)
६५२. श्री दुष्यन्त शर्मा, मालवीय नगर, चौक, दुर्ग (छ.ग.)
६५३. श्री सुरेन्द्र कुमार थवाइत, विद्यानगर, बिलासपुर(छ.ग.)
६५४. श्री आर. के. अग्रवाल, रविग्राम, रायपुर (छ.ग.)
६५५. श्री बृजमोहन खण्डेलवाल, महावीर नगर, दुर्ग (छ.ग.)
६५६. श्री कैलाश खेतान, राहा, नवगॉव (आसाम)
६५७. श्री बी. एल. अग्रवाल, डेकापट्टी, नवगॉव (आसाम)
६५८. श्री बी. बी गोयल, मॉडल टाउन, दिल्ली
६५९. श्रीमती रश्मिता ताम्रकार, दमोह (म.प्र.)
६६०. श्री पंकजेश श्रीवास्तव, करछना, इलाहाबाद (उ.प्र.)
६६१. श्री हरिदास जी महाराज, नाडियाद, खेडा (गुजरात)
६६२. श्रीमती अनुराधा वैद्य, पाण्डे लेआउट, नागपुर (महा.)
६६३. श्री अमिताभ शर्मा, आनन्द नगर, खण्डवा (म.प्र.)
६६४. श्री सी पी. दुबे, सुन्दर नगर, रायपुर (छ.ग.)
६६५. श्री कौशल प्रसाद चन्द्राकर, देवरी, महासमुन्द (छ.ग.)
६६६. श्री राजकुमार सिंह, सिख सराय फेज २, नई दिल्ली
६६७. डॉ. जवाहर चन्द्राकर, शिर्री, ससहा, रायपुर (छ.ग.)
६६८. श्री रविकुमार एस. कुन्हाड़े, मोर्शी, अमरावती (महाराष्ट्र)
६६९. श्रीमती रागिनी रा. सोनी, सोगापथ, बालाघाट (म.प्र.)
६७०. श्री तारिणी सेन, मण्डोसिल, बरगढ (उड़ीसा)
६७१. श्री अभिषेक दुबे, डंगनिया, रायपुर (छ.ग.)
६७२. श्री मिथिलेश जोशी, घाटकोपर, मुम्बई (महाराष्ट्र)
६७३. श्री शैलेन्द्र सिंह गौड़, सिवनी (म.प्र.)
६७४. डॉ. ओंकार राव, मनसागढ, शेगॉव, बुलढाणा (महा.)
६७५ श्रीमती अर्चना शर्मा, मिलपारा, दुर्ग (छ.ग.)
६७६ श्री सुभाष पण्डित, विजय नगर, इन्दौर (म.प्र.)
६७७. श्रीमती अर्चना चॅटर्जी, केन्द्रीय विद्यालय - २, अमृतसर
६७८. श्री प्रकाश चन्द्र गुप्ता, रोहतक रोड, दिल्ली
६७९. श्री एन. गट्टानी, भॅवरकुॅआ चौराहा, इन्दौर (म.प्र.)

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखे 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करे। उससे पहले प्राप्त शिकायतो पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मॅगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत इसे हमारे कार्यालय को न भेजे।

(६) सदस्यता, एजेसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातो पर ध्यान दें

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' मे स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनो ओर यथेष्ट हाशिया छोडकर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी सलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओ को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखो मे व्यक्त मतो की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना मे सम्पादक को यथोचित सशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं —

(१) धर्मार्थ औषधालय — नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय — (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं — (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)

सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

RAMAKRISHNA MISSION VIDYAPITH
A Residential Senior Secondary School
RAMAKRISHNA NAGAR, PO : VIDYAPITH
DT. - Deoghar, Bihar, Pin : 814 412
RLY. STATION : BAIDYANATHDHAM, E. RLY.

Phone : (06432) - 22413 & 20442
Telefax : 22360
E-Mail - rkmvidya@dte.vsnl.net.in

एक निवेदन

वर्ग द्वादश के लिए एक छात्रावास का निर्माण

मित्रो,

आप लोग यह जानकर निश्चित रूप से अत्यन्त प्रसन्न होंगे कि रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर ने इसी वर्ष अप्रैल से इन्टर (एकादश एवं द्वादश) की पढ़ाई आरम्भ की है । इसके लिए एक नये परिसर का निर्माण किया गया है, जहाँ प्रार्थना-भवन, पुस्तकालय, वर्ग एकादश के लिए छात्रावास, भोजनगृह, इन्डोरियम का निर्माण हो चुका है। लेकिन आर्थिक कमी के कारण वर्ग द्वादश के लिए छात्रावास का निर्माण-कार्य आरम्भ नहीं हो सका है, जबकि वर्ग द्वादश का सत्र जनवरी २००१ ई से आरम्भ होने जा रहा है। इस कार्य को पूरा करने के लिए १४ लाख रुपयों (४००० वर्गफीट के लिए रु. ३५० प्रति वर्गफीट की दर से) की आवश्यकता है।

अतः रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर की ओर से मैं इस महान् एवं पवित्र कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप उदारचेताओं से सहयोग की महती प्रार्थना करता हूँ।

चेक या ड्राफ्ट ''रामकृष्ण मिशन विद्यापीठ, देवघर'' के नाम से ही भेजे जाएँ।

रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान धारा ८०-जी के अनुसार आयकर से मुक्त है।

५०,०००/- रुपये या उससे अधिक की राशि-दाताओं के नाम संगमरमर शिलाखंड पर अंकित किये जायेंगे।

देवघर
दिनांक : गुरुपूर्णिमा २०००

स्वामी सुवीरानन्द
सचिव

नीति-शतकम्

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केशरी ।।२९।।

अन्वयः – क्षुत्क्षामः अपि, जराकृशः अपि, शिथिलप्राणः अपि, कष्टां दशाम् आपन्नः अपि, विपन्नदीधितिः अपि, मत्तेभेन्द्र-विभिन्न-कुम्भ-पिशित-ग्रासैक-बद्धस्पृहः मानमहताम् अग्रेसरः केशरी प्राणेषु नश्यत्सु अपि किम् जीर्णं तृणम् अत्ति?

भावार्थ – मतवाले हाथी के मस्तक को फाड़कर उसका मांस खाने का इच्छुक और स्वाभिमानियों मे अग्रगण्य सिह यदि भूखा हो, बुढ़ापे से दुर्बल हो गया हो, शरीर से शिथिल हो गया हो, दुर्दशा को प्राप्त होकर शक्तिहीन हुआ हो और प्राण निकल रहे हों, तो भी क्या सूखी घास खा सकता है? वैसे ही स्वाभिमानी व्यक्ति विपत्ति में पड़कर या दुर्दशा को प्राप्त होकर भी कभी क्षुद्र उपायों को नहीं अपनाता।

स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थिकं
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वांछति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ।।३०।।

अन्वयः – श्वा स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसं अपि अस्थिकं लब्ध्वा परितोषम् एति, तु तत् तस्य क्षुधाशान्तये न । सिंह अङ्कम् आगतं जम्बुकम् अपि त्यक्त्वा द्विपं निहन्ति । कृच्छ्रगतः अपि सर्वः जनः सत्त्वानुरूपं फलं वांछति ।

भावार्थ – थोड़ी-सी नस तथा चर्बी लगी हुई मांसरहित गन्दी हड्डी को भी पाकर कुत्ता सन्तुष्ट हो जाता है, यद्यपि इससे उसकी भूख नही मिटती । गोद मे आये हुए सियार को भी छोड़कर सिह हाथी को मारता है । कठिनाई मे पड़ने के बावजूद सभी लोग अपनी सामर्थ्य के अनुरूप ही फल की कामना करते हैं ।

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

– १ –

(भीमपलासी-त्रिताल)

तर्ज - वह शक्ति हमें दो दयानिधे

श्रीरामकृष्ण के चरणों में मेरा
सब कुछ न्यौछावर है,
माया-ममता का नाम नहीं,
तन-मन-जीवन उनका घर है ।।

जैसे वे रखते हैं मुझको,
वैसे ही जग में रहता हूँ,
अपने दिल की सारी बातें,
मैं प्रतिपल उनसे कहता हूँ;
अब तो यह दिखता है मुझको,
उनका ही रूप चराचर है ।।

जीवन का खेल खतम होगा,
जब दिन पूरे हो जायेंगे,
निज गोद उठा ले जाने को,
वे अन्तिम क्षण में आयेंगे;
तैयार सदा हूँ चलने को,
यम का अब दूर हुआ डर है ।।

– २ –

(पीलू-दादरा)

ठाकुर अब तो दरशन दे दो ।
लाया हूँ प्रसून चरणों में, यह मम जीवन ले लो ।।

माया है अति गूढ़ तुम्हारी, मुग्ध भ्रमित है दुनिया सारी,
कैसे हो निस्तार यहाँ से, इसका बोध मुझे दो ।।

आशा-तृष्णा सर्व मिटा दो, प्रेमामृत का पान करा दो,
माँग रहा हूँ आश्रय तुमसे, चरणों में अपने दो ।।

आकर कबसे द्वार खड़ा हूँ, होकर आर्त पुकार रहा हूँ,
हार चुका हूँ थककर अब तो, क्यों विलम्ब करते हो ।।

— *विदेह*

शक्तिदायी विचार (३)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी विचार उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थावली में बिखरे पड़े हैं । उन्हीं से संकलित होकर अंग्रेजी में Thoughts of Power नाम से एक छोटी सी पुस्तिका निकली है । अनेक भाषाओं में अनूदित होकर वह अत्यन्त लोकप्रिय भी हुई है । प्रस्तुत है उसी का एक नया अविकल अनुवाद । – सं.)

* ये महापुरुष कोई अन्य प्रकार के लोग नहीं, वरन् हमारे तुम्हारे समान ही आदमी थे । परन्तु वे महान् योगी थे । उन्होने अतिचेतन या ब्राह्मी अवस्था प्राप्त कर ली थी और चेष्टा करने पर हम भी उसकी प्राप्ति कर सकते है । वे कोई भिन्न प्रकार के व्यक्ति नहीं थे । किसी एक व्यक्ति का उस अवस्था को प्राप्त कर लेना ही इस बात को प्रमाणित करता है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए ही इस अवस्था की प्राप्ति सम्भव है । और यह केवल सम्भव ही नही है, बल्कि अन्ततः सभी लोग इस अवस्था की प्राप्ति करेगे । और इस अवस्था की उपलब्धि ही धर्म है ।

* मुक्ति या स्वाधीनता के इस मूर्तरूप, प्रकृति के स्वामी को हम ईश्वर कहते हैं । तुम उन्हें अस्वीकार नहीं कर सकते । इसलिए कि इस स्वाधीनता की धारणा के बिना तुम चल-फिर नही सकत और न जीवन धारण ही कर सकते हो ।

* कोई भी जीवन व्यर्थ नहीं जायेगा । संसार में निरर्थक नाम की कोई चीज नहीं है । आदमी सैकड़ों बार चोट खाएगा, हजारो बार लड़खड़ायेगा; परन्तु अन्त मे वह निश्चय ही जान लेगा कि 'मैं ईश्वर हूँ' ।

* धर्म न तो सिद्धान्तों में है, न मतवादों में और न ही बौद्धिक ऊहापोह में । जीवन का रूपान्तरण और परम तत्त्व का साक्षात्कार ही धर्म है ।

* ईसा मसीह के ये शब्द स्मरण रहें, "माँगो, और वह तुम्हे दिया जायेगा; ढूँढ़ो, और तुम उसे पाओगे । खटखटाओ, और द्वार तुम्हारे लिए खुल जायेगा ।" ये शब्द अलंकारिक या काल्पनिक नही, बल्कि पूर्णतः सत्य हैं ।

* बाह्य प्रकृति को जीत लेना बहुत अच्छा है, बड़ा भव्य है । परन्तु अपनी आन्तरिक प्रकृति पर विजय पाना उससे भी अधिक शानदार है । ... इस आन्तरिक प्रकृति को जीतना, मानव-मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं के रहस्य को समझना – पूरी तौर से धर्म के ही अन्तर्गत आता है ।

* जीवन-मरण, सुख-दुःख – सभी अवस्थाओं में ईश्वर समान रूप से विद्यमान है । पूरा जगत् ईश्वर से परिपूर्ण है । बस, अपनी आँखे खोलो और उनका दर्शन कर लो ।

* ईश्वर-पूजा के माध्यम से हम लोग सर्वदा अपनी अन्तर्निहित आत्मा की ही उपासना करते रहे हैं ।

* धर्म की उपलब्धि हो सकती है, परन्तु क्या तुम इसके लिए तैयार हो? क्या तुम्हे धर्म की जरूरत है? यदि तुम इसे सचमुच ही चाहते हो, तो तुम्हे इसकी प्राप्ति अवश्य होगी और तभी तुम सच्चे धार्मिक बनोगे । यह उपलब्धि जब तक नहीं हो जाती, तब तक नास्तिकों और तुममे कोई भेद नही । नास्तिक कम-से-कम सच्चा तो है; परन्तु वह व्यक्ति तो बिल्कुल भी सच्चा नही, जो धर्म में विश्वास तो करता है, लेकिन उसकी उपलब्धि के लिए प्रयास नही करता ।

* मै भूतकाल के सभी धर्मो को सत्य मानता हूँ और उन सभी के साथ मिलकर उपासना करता हूँ । वे चाहे जिस भाव से भी ईश्वर की उपासना करते हों, मै उनमे से प्रत्येक के साथ ठीक उसी भाव से उपसना करूँगा । मै मुसलमानो की मस्जिद मे जाऊँगा, ईसाइयो के गिरजे म जाकर क्रूसविद्ध मूर्ति के सम्मुख घुटने टेकूँगा, बौद्धो के चैत्य मे प्रवेश करके बुद्ध तथा संघ की शरण लूँगा और अरण्य में जाकर उन हिन्दुओं के साथ ध्यान में डूब जाऊँगा, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय को आलोकित करनेवाली ज्योति को देखने का प्रयास कर रहे हैं ।

* भारतवर्ष मे हम जिसे 'योग' या एकत्व कहते है, उसी के द्वारा इस धर्म की उपलब्धि होती है । कर्मयोगी के लिए यह व्यक्ति के साथ सम्पूर्ण मानवता का योग है; राजयोगी के लिए यह जीव तथा परमात्मा का योग है; भक्तिमार्गी के लिए यह स्वयं के साथ प्रेममय ईश्वर का योग है और ज्ञानयोगी के लिए यह ब्रह्माण्ड की एकता रूप योग है । 'योग' का यही अर्थ है ।

* अब प्रश्न उठता है कि क्या धर्म सचमुच कुछ कर सकता है? हाँ, कर सकता है । यह मनुष्य को अनन्त जीवन प्रदान करता है । मनुष्य वर्तमान में जो है, वह इस धर्म की ही शक्ति से हुआ है और वही इस मनुष्य नामक जन्तु को ईश्वर बनायेगा । यही है धर्म की सामर्थ्य । मानव-समाज से धर्म को हटा दो, तो फिर क्या बचेगा? यह संसार हिंस्र जन्तुओ से परिपूर्ण एक अरण्य मात्र रह जायेगा ।

* तुम्हारी सहायता कौन करेगा? तुम्हीं तो विश्व के सहायक हो । इस ब्रह्माण्ड में भला कौन तुम्हारी सहायता कर सकता है? कौन-सा मानव, देवता अथवा दैत्य तुम्हारी सहायता करने मे सक्षम है? तुमसे प्रबल दूसरा कौन है? स्वयं ही जगत् के ईश्वर होकर तुम किससे सहायता माँगोगे? तुम्हे जो भी सहायता मिली है, वह तुम्हारे भीतर से ही आयी है । अपनी अज्ञानावस्था मे तुमने प्रार्थना करके जो उत्तर पाया, उसे

तुमने किसी अन्य से प्राप्त हुआ समझा, परन्तु न जानते हुए भी तुमने स्वयं ही उस प्रार्थना का उत्तर दिया है।

* पुस्तकों का अध्ययन करते समय कभी कभी हमें यह भ्रम हो जाता है कि इससे हमें आध्यात्मिक सहायता मिल रही है, परन्तु यदि हम ऐसे अध्ययन से अपने पर होनेवाले फल का विश्लेषण करें, तो देखेगे कि उससे बहुत हुआ तो हमारी बुद्धि को ही कुछ लाभ होता है, हमारी अन्तरात्मा को नहीं। ग्रन्थो का अध्ययन हमारे आध्यात्मिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसी कारण यद्यपि प्राय: हम सभी आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, परन्तु उन्हें क्रियान्वित करने या सच्चे आध्यात्मिक जीवन बिताने की बात उठती है, तो हम उसमें अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा को जगाने के लिए किसी अन्य आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।

* एकमात्र ईश्वर ही अमर है, एकमात्र आत्मा ही अमर है और एकमात्र धर्म ही अमर है। इसी को पकड़े रहो।

* उपासना-प्रणालियों में विभिन्नता होने के बावजूद, संसार के सभी धर्म वस्तुत: एक ही हैं।

* ध्यान ही असल वस्तु है। ध्यान करो। ध्यान ही सबसे महत्वपूर्ण है। मन की यह ध्यानावस्था ही आध्यात्मिक जीवन के निकटतम पहुँचती है। हमारे दैनन्दिन जीवन का यही वह क्षण है, जब हम बिल्कुल भी सांसारिक नहीं रह जाते, जब आत्मा समस्त जड़ पदार्थों से मुक्त होकर स्वयं का चिन्तन करती है – आत्मा का यह अद्भुत संस्पर्श है।

* ईश्वर के श्रीचरणों में शरण लेनेवाले उन तथाकथित कर्मियों की अपेक्षा दुनिया का अधिक भला करते हैं। जिस व्यक्ति ने स्वयं को पूरी तौर से पवित्र बना लिया है, वह प्रचारकों की एक पूरी फौज से भी अधिक कार्य करता है। पवित्रता तथा मौन से ही वाणी में शक्ति आती है।

* आज हमें यही जानने की जरूरत है कि एक ईश्वर हैं और हम उन्हें अभी तथा यहीं देख तथा महसूस कर सकते हैं।

* 'भोजन, भोजन' चिल्लाना और वास्तव में खाना अथवा 'पानी, पानी' चिल्लाना और वास्तव में पानी पीना – इन दोनों के बीच आकाश-पाताल का भेद है; अत: केवल 'ईश्वर, ईश्वर' रटकर ही हम उनके दर्शन की आशा नहीं कर सकते। हमें इसके लिए प्रयत्न और साधना करनी होगी।

* बुराइयों के आतंक से घिरे रहकर भी कहो – "मेरे प्रभु! मेरे प्रियतम!" मृत्यु की यातना के बीच भी कहो – "मेरे प्रभु! मेरे प्रियतम!" दुनिया के सभी पापों में भी कहते रहो – "मेरे प्रभु! मेरे प्रियतम! तुम यहीं हो, मैं तुम्हें देखता हूँ; तुम मेरे साथ हो, मैं तुम्हारा अनुभव करता हूँ; मैं तुम्हारा हूँ, मुझे स्वीकार करो। मैं इस जगत् का नहीं, तुम्हारा हूँ, अत: मुझे त्यागो मत।" हीरों की खान को छोड़कर काँच के टुकड़ों के पीछे मत दौड़ो। यह जीवन एक बड़ा सुयोग है। क्या? तुम सांसारिक सुखों की खोज करना चाहते हो? वे समस्त आनन्दों के मूल स्रोत हैं। सर्वोच्च की खोज करो, सर्वोच्च को ही लक्ष्य बनाओ और तुम अवश्य सर्वोच्च तक पहुँच जाओगे।

भारतवर्ष

* पूरा संसार हमारे देश का अत्यन्त ऋणी है। यदि विभिन्न देशों की पारस्परिक तुलना की जाय, तो पता चलेगा कि संसार किसी अन्य देश का उतना ऋणी नहीं है, जितना कि इस सहिष्णु तथा निरीह भारतवर्ष का।

* बहुत-से लोगों को भारतीय विचार, भारतीय प्रथाएँ, भारतीय आचार-व्यवहार, भारतीय दर्शन और भारतीय साहित्य प्रथम दृष्टि में कुछ कुछ बीभत्स प्रतीत होते हैं; परन्तु यदि वे धैर्यपूर्वक उक्त विषयों का विवेचन करें, मन लगाकर अध्ययन करें और इन विचारों में निहित महान् सिद्धान्तों से सुपरिचित हो जायँ, तो इसके फलस्वरूप निन्यानबे प्रतिशत लोग उनसे आकृष्ट होकर उनके प्रति मोहित हो जायेंगे।

* ज्यों ज्यों मेरी उम्र बढ़ती जा रही है, त्यों त्यों भारत की ये प्राचीन प्रथाएँ मुझे भली प्रतीत हो रही है। एक समय ऐसा था, जब मैं इनमें से अधिकांश को अनुपयोगी तथा निरर्थक समझता था, परन्तु ज्यों ज्यों मेरी आयु बढ़ती जा रही है, त्यों त्यों मैं इनमें से किसी के भी विरुद्ध कुछ कहते हुए संकोच का अनुभव करता हूँ, क्योंकि इनमें से प्रत्येक सैकड़ों वर्षों के अनुभवों का साकार रूप है।

* मेरी बात पर विश्वास करो। दूसरे देशों में धर्म पर बातें बहुत होती हैं, परन्तु ऐसे लोग जिन्होंने धर्म को अपने जीवन में रूपायित किया है – यहीं और केवल यहीं हैं।

* मैंने आप लोगों से कहा कि हमारे पास अभी भी संसार को सिखाने के लिए कुछ है। इसी कारण तथा उद्देश्य से सैकड़ों वर्षों के अत्याचार और लगभग हजार वर्षों के विदेशी शासन तथा विदेशी उत्पीड़न के बावजूद यह जाति अब भी जीवित है। इसके जीवित रहने का कारण यह है कि इसने अब भी ईश्वर को और धर्म तथा आध्यात्मिकता रूपी खजाने को पकड़ रखा है।

* हमारी इस मातृभूमि में अब भी धर्म व अध्यात्म-विद्या का जो स्रोत बहता है, उसकी बाढ़ समस्त विश्व को आप्लावित करके उन पाश्चात्य और दूसरी जातियों में नवजीवन का संचार करेगी, जो राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं तथा सामाजिक कपटता के द्वारा प्राय: जीर्ण-शीर्ण, अर्धमृत तथा पतित हो चुके हैं।

❖ (क्रमश:) ❖
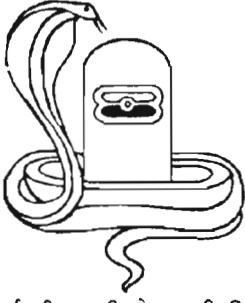
शिवमहिम्नःस्तोत्रम् (३)

स्वामी भूतेशानन्द

(भगवान शिव के समस्त स्तोत्रो मे 'शिवमहिम्न' ही सर्वाधिक लोकप्रिय है। रामकृष्ण मठ तथा मिशन के बारहवे अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज द्वारा की हुई इसकी व्याख्या बँगला मासिक 'उद्बोधन' के फरवरी-मई १९९८ के अंको मे प्रकाशित हुई थी। वही से स्वामी चिरन्तनानन्द जी द्वारा हिन्दी अनुवाद हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठो मे क्रमशः प्रकाशित कर रहे है। – सं.)

पुष्पदन्त कहते हैं कि जिस व्यक्ति की भगवान में भक्ति नही, उसके धार्मिक आयोजनो के फलस्वरूप विपत्ति को ही आमंत्रण मिलता है –

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-
मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।२१।।

– देहधारी जीवो के अधिपति दक्ष प्रजापति यज्ञादि के विषय में सर्वाधिक कुशल हैं। अर्थात् कर्मानुष्ठान का अधिकारी या उसमे योग्यता प्राप्त करने के लिए जो दो आवश्यक शर्ते हैं – कर्म के सम्बन्ध में ज्ञान एवं कर्मानुष्ठान की सामर्थ्य, वे दक्ष मे विद्यमान है। यहाँ स्वयं दक्ष ही यज्ञ के यजमान है, **ऋषीणामार्त्विज्यम्** – ऋषिगण याजक हैं, **सदस्याः सुरगणाः** – देवतागण यज्ञ के सदस्य या पर्यवेक्षक हैं, अर्थात् यज्ञ की परिपूर्णता के लिए जो भी जरूरी है, सब विद्यमान है; फिर भी हे आश्रयदाता (महादेव)! **क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः** – वह यज्ञ भी तुम्हारे द्वारा विध्वंस हो गया, क्योकि यज्ञ के फल प्रदाता तुम नाराज हो गये थे। परन्तु तुमने जो यज्ञ का ध्वंस किया था, तो तुम्हारा स्वभाव कैसा है? **क्रतुफलविधानव्यसनिनः** अर्थात् जो यज्ञ के स्वर्गादि फल देने को अतीव आतुर रहते हैं, उन्ही के द्वारा यज्ञध्वंस हुआ था। प्रश्न उठता है कि क्या नाराजगी के कारण ही यज्ञ नष्ट हुआ? उत्तर में पुष्पदन्त कहते हैं – नही, ऐसी बात नहीं, असल बात है – **ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः** – यदि कोई व्यक्ति कर्म-फलदाता परमेश्वर मे श्रद्धारहित होकर यज्ञ करता है, तो वह यज्ञ अवश्य ही अभिचार के समान फल देगा। विनाश आदि के लिए जो कर्म किया जाता है, उसे अभिचार कहते हैं। देवाधिदेव महादेव को यज्ञ मे आमंत्रण न देकर दक्ष ने उनका अपमान किया था, यह उपेक्षा ही अभिचार के रूप मे परिणत होकर यज्ञ-विध्वंस का कारण बनी थी।

भगवान भक्तजनो के प्रति कृपा करने को उत्सुक हैं, परन्तु विधर्मियो के प्रति अत्यन्त कठोर है –

प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं
गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्य वपुषा ।
धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि सपत्राकृतममुं
त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः।।२२।।

– हे प्रभो! कामातुर प्रजापति जब अपनी ही कन्या के प्रति आसक्त होकर उसे पकड़ने को गये, तब वह कन्या लज्जा मे मृगरूपिणी बनकर छिप जाती हैं। तब प्रजापति भी मृगरूप धारण करके बलपूर्वक घृणित कर्म करने का प्रयास करते हैं। धर्मप्रवर्तक होकर भी ऐसे गर्हित आचरण के प्रजापति निश्चय ही दण्डनीय है – सोचकर तुमने उस पर बाण चलाया। तुम्हारे पत्रयुक्त अचूक बाण से प्रजापति का शरीर बिंधने से वे परम व्याकुल होकर आकाश में भाग गये। पर हे पिनाकपाणे, वहाँ भी **मृगव्याधरभसः** – कुशल शिकारी के रूप में तुम्हारा पराक्रम भयाकुल ब्रह्मा को आज भी नहीं छोड़ता। प्रजापति भाग रहे है, तुम्हारा बाण उसके पीछे पीछे भाग रहा है। आकाश का लुब्धक नक्षत्र ही रुद्र है, मृगशिरा नक्षत्र ब्रह्मा है, रोहिणी नक्षत्र ब्रह्मा की दुहिता और आर्द्रा नक्षत्र रुद्र का बाण है। आर्द्रा और मृगशिरा के निकट सानिध्य से ही जान पड़ता है कि व्याधरूप महादेव के द्वारा छोड़ा गया तीर आज भी ब्रह्मा के पीछे पीछे दौड़ रहा है।

त्यागमूर्ति महादेव का स्वरूप वैराग्य से उद्भासित है –

स्वलावण्याशंसा धृतधनुषमह्नाय तृणवत्-
पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि ।
यदि स्त्रैणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-
दवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः।।२३।।

– हे पुरमथन! (अर्थात् दुर्जय त्रिपुर का विनाश करने में सक्षम अमित शक्तिशाली परमेश्वर), हे यमनिरत! (अर्थात् संयम में अचलप्रतिष्ठ) जितेन्द्रिय महादेव, पार्वती के असीम सौन्दर्य के द्वारा तुमको मुग्ध करेगे – यही आशा लेकर कामदेव ने धनुष धारण किया, परन्तु तुम्हारी कोपाग्नि के फलस्वरूप पार्वती के समक्ष ही कामदेव क्षण भर में तृण के समान भस्म हो गया। अपने रूप-लावण्य की तुच्छता तथा अपनी आँखों के सामने ऐसे शक्तिधर कामदेव को भस्मीभूत होते देखकर भी यदि देवी पार्वती तुमको स्त्री-लम्पट समझने लगें, तो यह उनके लिए उचित ही है। पार्वती की दीर्घकालीन तपस्या तथा शिवभक्ति की बात स्मरण करके, करुणाविगलित हो तुमने उन्हें स्वदेह में स्थान दिया और अर्धनारीश्वर के रूप में प्रसिद्ध हुए। हे योगि-शिरोमणि, पार्वती को अपने शरीर में स्थान देने के कारण यदि वे तुम्हारे अनुग्रह की बात भूलकर तुम्हे अपने अधीन माने, तब तो पार्वती का यह नारी-जनोचित आचरण उनके लिए उचित

ही है। **बत वरद मुग्धा युवतयः** – हे वरदाता! अपक्व बुद्धि की किशोरियाँ ऐसी ही चपल स्वभाव की हुआ करती हैं!

यहाँ हमें समझ लेना होगा कि वस्तुत: साधारण स्त्री-स्वभाव का अनुसरण करते हुए ही चैतन्य-स्वरूपा पार्वती के बारे में यह बात कही गयी है। भगवान का और एक नाम 'हृषीकेश' है – इन्द्रियों के परिचालक। उन्हीं के संकेत पर इन्द्रियाँ विषय-भोगों में लिप्त होती हैं, अत: इन्द्रियों में भला ऐसी सामर्थ्य ही कहाँ है कि उन्हें विषयमुग्ध कर सकें?

महादेव के बाह्य अमंगलकर आचरण के पीछे उनका चिरमंगलमय रूप छिपा है –

श्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-
श्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः।
अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं
तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि ।।२४।।

– हे मदनान्तक ! श्मशान तुम्हारा लीलास्थान है, सहचर सब पिशाच हैं। चिताभस्म तुम्हारा अंगलेप है। नरमुण्डों से तुम्हारी माला बनी है। तुम्हारा जो कुछ भी दिख रहा है, सब अमंगलसूचक ही है। तुम्हारा आचरण भी वैसा ही है। अब तुम्हारे सहायक-सम्पदा तथा जीवनचर्या चाहे जैसी भी हो, तथापि जो तुम्हारा स्मरण करते हैं – **स्मर्तॄणां वरद परमं मंगलमसि** – हे अभीष्टपूरक, तुम उनके लिए मंगलदाता ही हो। महादेव का बाह्य वेश-भूषण वस्तुत: भक्त के अनुराग की परीक्षा हेतु है। जो स्वभाव से शिवभक्त हैं, उनकी निष्ठा महादेव के अद्भुत आचरण से कणमात्र भी विचलित नहीं होती। अन्य लोग जिन वस्तुओं का त्याग करते हैं, उन्हीं चिताभस्म आदि को सादर ग्रहण करने से शिव का त्यागीश्वर रूप भी प्रकाशित हो उठा है। अत: मंगलकामियों के लिए अशुभभूषण शिव आराध्य हो सकते हैं या नहीं – इस प्रकार के किसी सन्देह का अब कोई स्थान नहीं रह जाता।

अमंगल-सूचक चिह्न आदि बाह्य वस्तुएँ हैं। तो तुम्हारा स्वरूप कैसा है? इसका वर्णन करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं –

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः
प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः
यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये
दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्।।२५।।

– तुम्हारा स्वरूप **तत्त्वं किमपि** – एक अनिर्वचनीय परमार्थ सत्य है या वर्णनातीत है। फिर भी शम-दम आदि साधनों से सम्पन्न साधकगण अनुभूति की गहराई में जिन्हें प्रत्यक्ष करके, विषय सुखों के पूर्णत: विपरीत, जो अतिशय आनन्द-लाभ करते हैं, वह तुम्हीं हो। जिस तत्त्व का साक्षात्कार करके वे परम आनन्द में विभोर होते हैं, तुम उस तत्त्व-स्वरूप होने से अवश्य ही आनन्दमय हो। योगियों की आनन्दानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति का वर्णन करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं – संयमी तपस्वीगण मन को अन्तर्मुख करके शास्त्र-निर्दिष्ट उपाय से प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को स्तम्भित करके जब समाधि में लीन हो जाते हैं, तब **प्रहृष्यद्रोमाणः** – उनके शरीर में रोमांच होता है, आनन्दाश्रुओ से आँखें भर आती हैं। उनकी आनन्दमय अवस्था अमृत-सरोवर में निमज्जित व्यक्ति के साथ ही तुलनीय है। आनन्दमय तपस्वीगण जिन्हें अन्तर में धारण किए रहते हैं, वह अन्तर की वस्तु तुम्हीं हो। जिन्होंने तुम्हारी अनुभूति नही की, वे तुम्हारी आनन्दमयता को कैसे जानेंगे? योगिगण तुम्हारे तत्त्व या स्वरूप का अनुभव करके आनन्द-सागर में निमग्न रहते हैं। उनके शरीर में रोमांच आदि दिखता है। योगियों को देखकर अन्य लोग जान पाते हैं कि बाहर अभिव्यक्त होनेवाला यह असीम आनन्द कहाँ से आ रहा है? जिस तत्त्व का अन्तर में अनुभव करके, उन्हें इतना आनन्द हो रहा है, वह तत्त्व तुम्ही हो। इसके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से तुम्हारे स्वरूप का वर्णन नही किया जा सकता।

ज्ञानियों ने भगवान का वर्णन विभिन्न प्रकार से किया है। परन्तु जो शब्दातीत तथा सर्वत्र ओतप्रोत हैं, वे क्या शब्द के विषय हो सकते हैं? उन्हें क्या शब्द द्वारा निरूपित किया जा सकता है? पुष्पदन्त यही बता रहे हैं –

त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवह-
स्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च।
परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं
न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ।।२६।।

– बुद्धिमान तथा शास्त्रज्ञ लोगों का कहना है कि तुम सूर्य, चन्द्र, गगन, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी और तुम्हीं आत्मा अर्थात् यजमान हो। तुम्हारी अष्टमूर्ति की कल्पना करके ही ऐसा कहा गया है। तुम स्वरूपत: अद्वय हो, तथापि विज्ञजन तुम्हारे आच्छादित स्वरूप का ही वर्णन करने में प्रयासी हैं। किन्तु यह तो धृष्टता है। इसी कारण पुष्पदन्त कहते हैं – **परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं** – तुम असीम के विषय में परिपक्व बुद्धि के लोग 'ससीम' शब्दों का प्रयोग करते हैं तो करें, परन्तु **न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि** – हमें तो संसार में ऐसी कोई तत्त्व या वस्तु विदित नहीं है, जो तुम नहीं हो अर्थात् तुम्हें छोड़ जगत् में अन्य किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। हम भगवान के स्वरूप की जिस अष्टमूर्ति के रूप में कल्पना करके पूजा करते हैं, क्या वे उसी अष्टमूर्ति में सीमाबद्ध हैं? ऐसा नहीं है। विभिन्न रूपों में उन्हीं की उपासना करने हेतु लोग इस अष्टमूर्ति की कल्पना करते हैं, परन्तु वे क्या नहीं हैं, यह कैसे कहें? जो सर्वव्यापी हैं, उन्हें कैसे भी परिच्छिन्न या सीमित नहीं किया जा सकता। पुष्पदन्त यहाँ थोड़ा कटाक्षपूर्वक कह रहे हैं कि जो लोग

बुद्धिमान है, वे इस तरह की बात करते हैं, परन्तु हमारे भीतर पाण्डित्य का इतना अभिमान नही है।

तुम्ही महान् ॐकार के भी प्रतिपाद्य हो –

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृतिः।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्।।२७।।

– हे **शरणद** – आर्तजनों को अभय देनेवाले भगवान शंकर, वेदो मे प्रतिपादित 'ॐ' – यह शब्द तुम्हारा स्वरूप व्यक्त करता हुआ तुम्हारी स्तुति करता रहता है। यह 'ॐ' शब्द कैसा है? यह अ, उ, म – इन तीन वर्णों में विभक्त है।

ये तीन अक्षर ऋक्-साम-यजुष् रूप तीन वेद; जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति रूप तीन अवस्थाओं; स्रष्टा-त्राता-संहर्ता ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप तीन देवताओं तथा पृथ्वी-अन्तरिक्ष-स्वर्ग रूप तीन लोकों का प्रतिपादन करता है। और स्थूल शब्द के बाहर जो अस्फुट नाद कही जानेवाली सूक्ष्म ध्वनि है, उसके द्वारा तुम्हारे निर्विकार चैतन्य स्वरूप का प्रतिपादन हो रहा है। वस्तुतः, ॐकार एक तथा बहु रूपों में विद्यमान तुम्हारी ही स्तुति करता है। समस्त जगत् में एकमात्र तुम्ही ओतप्रोत हो – **समस्तं व्यस्तं त्वाम्**। तुम जिस तीन वर्णोवाले ॐकार के वाचक हो, उसका प्रत्येक वर्ण अलग अलग रूप में जगत् के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक – समस्त पदार्थों का बोधक है, दर्शनशास्त्र की भाषा मे जिसे 'अवयवशक्ति' कहते हैं। पुनः वर्णो की मिलित शक्ति तुम्हारे तुरीय ब्रह्मवस्तु स्वरूप की बोधक है। अतः ॐ शब्द के द्वारा समझ मे आता है कि तुम परिच्छिन्न और असीम अपरिच्छिन्न दोनो हो।

तुमको और भी अनेक नामो से पुकारा जाता है, परन्तु तुम्हारी महिमा का स्वरूप निर्धारण करने में मुझ असमर्थ का प्रणाम ही एकमात्र सम्बल है –

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सहमहां-
स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।
अमुष्मिन् प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि
प्रियायास्मै धाम्ने प्रणिहितनमस्योऽपि भवते।।२८।।

– भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम एवं ईशान - ये तुम्हारे आठ नाम हैं। इन आठ नामो में प्रत्येक का अर्थ निर्धारण करने मे वेद भी प्राणपण से लगे हैं अथवा दूसरो की तो बात ही क्या, देवताओ की श्रवणेन्द्रियाँ भी इन आठ नामों के श्रवण के लिए सर्वदा परम उत्सुक रहती हैं।

तुम्हारे सर्वव्यापक होने के बावजूद शास्त्रकारों ने तुम्हारी आठ प्रत्यक्ष मूर्तियों की कल्पना की है – **भव**-जलमूर्ति, **शर्व**- क्षितिमूर्ति, **रुद्र**-अग्निमूर्ति, **पशुपति**-यजमानमूर्ति, **उग्र**-वायुमूर्ति, **महादेव**-सोममूर्ति, **भीम**-आकाशमूर्ति, **ईशान**-सूर्यमूर्ति। जिनके नाम की ही ऐसी महिमा तथा गौरव है, तो फिर उनका स्वरूप कैसा होगा? **प्रियायास्मै धाम्ने** – तुम आनन्दस्वरूप एवं जगत् के आश्रय हो।

कहाँ स्वमहिमा में विराजित तुम सर्वोच्च परमेश्वर और कहाँ मै नगण्य प्राणी! मैं ऐसा अधम हूँ कि तुम्हारी महिमानुरूप उपचार देकर तुम्हारे प्रति श्रद्धा निवेदन करने के भी अयोग्य हूँ। अतः हे ज्योतिर्मय देव! **प्रणिहितनमस्योऽपि भवते** – मैं देह-मन-वाणी से तुम्हारे श्रीचरणो मे प्रणाम करता हूँ।

इसके बाद पुष्पदन्त विभिन्न प्रकार से प्रणाम कर रहे हैं –

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो
नमः सर्वस्मै ते तदिदमतिसर्वाय च नमः।।२९।।

– तुम्हारे विभिन्न रूप में तुम्हें प्रणाम करता हूँ। हे **'प्रियदव'** अर्थात् वैषयिक सुखो के विनाशक अथवा हे अपने प्रिय वन में विचरण करनेवाले, भक्तो के हृदय-निवासी होने के कारण तुम परम निकट को प्रणाम है! अभक्तों के लिए मन से अगोचर जानकर तुम दूरतम को प्रणाम है। हे कामदेव को भस्म करनेवाले शिव! निर्गुणरूप में तुम सूक्ष्मतम को प्रणाम है। सगुण, सर्वात्मक रूप मे तुम बृहत्तम को प्रणाम है। 'वृद्ध' अर्थात् प्राचीन; तुम प्राचीनतम को प्रणाम है। जगत् के मूल होने के कारण तुम्ही प्राचीनतम हो। हे त्रिनयन! सर्वद्रष्टा! तुम तरुणतम को प्रणाम है। अविकारी होने से तुम चिरतरुण हो। परोक्ष, अपरोक्ष सर्वरूप में विद्यमान तुमको प्रणाम है। और फिर सर्वातीतरूप में भी विद्यमान तुमको नमस्कार है। सर्वरूप में तुम हो, सर्वकाल मे तुम हो और सर्ववस्तु में तुम हो – इस प्रकार देखकर मैं तुमको बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हमारे बुद्धि की शक्ति अतीव सीमित है, अतः नेदिष्ठ (निकटतम), दविष्ठ (दूरतम) आदि परस्पर विरुद्ध विशेषण हमारे लिए भ्रान्तिकर हैं। अतुल्य महिमा से युक्त तुम्हारे स्वरूप-निर्णय में अपनी अक्षमता समझ पाने के कारण ही उस चेष्टा को छोड़कर मैं तुम्हे बारम्बार प्रणाम करना श्रेयस्कर समझता हूँ।

उनका निर्गुण, गुणमय रूप अगले श्लोक में –

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः।।३०।।

– जब तुम प्रबल रजोगुण में अधिष्ठित होते हो, तो जगत् की उत्पत्ति होती है। रजोगुण की अधिकता से जब सत्व तथा तमस् अभिभूत रहता है, तो उस अवस्था में मै तुम्हें भव कहता हूँ, भव अर्थात् जिनसे जगत् का उद्भव हो रहा है। उन भवरूपी तुमको प्रणाम करता हूँ। तमोगुण का प्राबल्य होने पर जब अन्य सत्त्व तथा रजस् रूपी दो गुण निश्चल हो

जाते हैं, तब तुम जगत् का संहार करते हो। संहार करने में निरत हररूपी तुमको प्रणाम है। लोकपालन हेतु सत्वगुण के उत्कर्ष रूपी वैशिष्ट्य से युक्त तुम विष्णुमूर्ति को प्रणाम है। इस रूप मे तुम्हारा नाम मृड – आनन्द-विधाता है। फिर जब तुम तीनों गुणो के अतीत हो, तो उस शिवरूपी तुमको प्रणाम है। अर्थात् तुम तीन गुणों को धारण करके जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय कर रहे हो। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तुम्हारा कल्पित या सीमित रूप है। वास्तव में ये तीनों तुम्ही हो – तुम ही एक रूप में ब्रह्मा, दूसरे रूप में विष्णु और तीसरे रूप में महेश्वर हो। फिर जब तुम इन तीनों गुणों से अतीत हो जाते हो, तब तुम्हें 'शिव' का नाम दिया जाता है। शैवमत में इसी प्रकार कहा जाता है। उपनिषद् ने भी – **शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते; स आत्मा'** आदि मंत्रों के द्वारा तुम्हारे गुणातीत स्वरूप को 'शिव' शब्द से निरूपित किया है। महादेव के गुणातीत स्वरूप का वर्णन करते हुए पुष्पदन्त कहते हैं – **प्रमहसि पदे** – तुम मायारूप अन्धकार के स्पर्शशून्य स्वयंप्रकाश सर्वोत्तम ज्योतिस्वरूप हो। और फिर तुम्ही पदनीय अर्थात् गन्तव्य हो। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मनुष्य की शक्तियाँ

स्वामी सत्यरूपानन्द

शक्ति का परिचय हमें उसकी अभिव्यक्ति से, उसकी क्रियाशीलता से ही मिलता है। शक्ति यदि अभिव्यक्त न हो, क्रियाशील न हो, तो वह अज्ञात ही रह जाती है तथा अव्यक्त शक्ति निष्क्रिय और सुप्त होती है और इसीलिए व्यर्थ ही रह जाती है। अभिव्यक्ति के लिए शक्ति को किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। माध्यम जितना अनुकूल होगा, शक्ति उतनी ही अधिक मात्रा में अभिव्यक्त और सक्रिय होकर सार्थक होगी।

विद्युत, चुम्बकीय आदि शक्तियाँ तो ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं ही, किन्तु जब तक उन्हें उपयुक्त माध्यम नहीं मिल पाता, वे अभिव्यक्त नहीं हो पातीं, सक्रिय नहीं हो पातीं। और इसीलिए उनका अनुभव नहीं हो पाता।

अनुभव से ही मनुष्य शक्ति को जान पाता है, उसे पहचान पाता है। शक्ति की अभिव्यक्ति के विभिन्न माध्यम हो सकते हैं। किन्तु सभी प्रकार की शक्तियों की अनुभूति का एकमात्र माध्यम है मनुष्य। एकमात्र मनुष्य को ही विभिन्न प्रकार की शक्तियों का ज्ञान होता है, उसका अनुभव होता है। मनुष्येतर प्राणियों को भी शक्ति का अनुभव हो रहा है, यह ज्ञान भी तो मनुष्य को ही होता है। अतः मनुष्य ही शक्ति की अनुभूति का एकमात्र माध्यम है। शक्ति को दो भागों में बाँटा गया है। (१) जड़ शक्ति (२) चैतन्य शक्ति।

जड़ शक्ति में अनुभव की क्षमता नहीं होती। वह प्रकृति के नियमानुसार कार्य करती है। वह अधी होती है, उसे भले-बुरे, लाभ-हानि आदि का ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में उसमें चेतना या बुद्धि नहीं होती। प्रकृति की सभी शक्तियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।

किन्तु शक्ति का अनुभव करने वाले मनुष्य के भीतर उससे भिन्न एक शक्ति है – जो अनुभव करती है। जिसमें विवेक है, भले-बुरे, लाभ-हानि आदि का ज्ञान है। निर्णय करने की सामर्थ्य है। इसी शक्ति का नाम चैतन्य शक्ति है। वस्तुतः यही शक्तियों की शक्ति – महाशक्ति या आद्याशक्ति है। इस चैतन्य महाशक्ति के द्वारा ही विश्व-ब्रह्माण्ड की अन्य सभी शक्तियाँ नियंत्रित एव सचालित होती हैं।

यद्यपि यह शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड में अतर्बहिः ओतप्रोत रूप से व्याप्त है, तथापि मानव हृदय ही उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति का अधिष्ठान है। मानव अतःकरण ही वह उपकरण है, जिसके माध्यम से चैतन्य आद्याशक्ति व्यक्त एव सक्रिय होती है। किन्तु मनुष्य ने अपने अतःकरण को जड़ शक्ति से इतना अधिक भर लिया है कि उसे अपने हृदय में विद्यमान इस चैतन्य शक्ति का अनुभव ही नहीं हो पाता। उल्टे उसने स्वय को जड़ समझकर अपने आपको जड़ शक्तियों का दास बना लिया है।

इस दासता से मुक्त होने पर ही मनुष्य सच्चा मनुष्य बन सकेगा। तभी वह वस्तुतः शक्तिधर होकर बाहर भीतर की सभी शक्तियों का नियत्रक तथा संचालक हो सकेगा। और तभी सभी शक्तियाँ मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति का साधन बन सकेंगी। यही एकमात्र उपाय है मानव समाज की उन्नति और समृद्धि का, उसके परम कल्याण का।

जड़ की दासता से मुक्त होने के लिए मनुष्य को अपने भीतर की इस चैतन्य शक्ति का अनुभव करना होगा। उसे अभिव्यक्त करना होगा। यह तभी सभव है, जब मनुष्य अहर्निश यह चिंतन करे, यह स्मरण करे कि वह नित्यमुक्त शुद्ध-बुद्ध चैतन्य शक्ति पुज है। वह सभी जड़ शक्तियों का स्वामी है। स्वाधीन है।

मानस-रोगों से मुक्ति (७/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमार आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे । प्रस्तुत अनुलेखन नैंतालीसवे प्रवचन का पूर्वार्ध हैं । टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे प्राध्यापक है । – सं.)

'रामचरितमानस' में कागभुशुण्डि जी मानस-रोगों की भीषणता का बड़े विस्तार से वर्णन करते हुए अन्त में यही कहते है कि इन रोगो का नष्ट होना बड़ा कठिन है । तथापि भगवान की कृपा से यदि समुचित संयोग बन जाय तो ये मन के रोग नष्ट हो सकते हैं । मानस-रोगों की चिकित्सा का एक क्रम प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं —

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा ।
जौं एहि भाँति बनै संयोगा ।।
सदगुर बैद बचन बिस्वासा ।
संजम यह न बिषय कै आसा ।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी ।
अनूपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं ।
नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ।। ७/१२२/५-८

'मानस' की उपरोक्त पंक्तियों मे जो सूत्र बताए गये हैं, वे ही सारी बाते शारीरिक रोगो के सन्दर्भ में भी दीख पड़ती हैं । शरीर मे रोग की अनुभूति होने पर रोग के कष्ट से मुक्ति पाने के लिये, स्वस्थता प्राप्त करने के लिये हम डॉक्टर या वैद्य का आश्रय लेते है । किन्तु वैद्य का आश्रय लेने का तात्पर्य केवल यह नही कि किसी बड़े वैद्य को बुला लिया । सद्गुरु रूपी वैद्य की बातो पर विश्वास रोगी का प्रथम कर्तव्य है और वह विश्वास यदि क्रिया मे व्यक्त न हो, तो वह विश्वास सार्थक नही है ।

आयुर्वेद मे औषधि के साथ साथ **अनुपान** की बड़ी पुरानी परम्परा रही है । आजकल लोगों का ध्यान इसकी ओर उतना नही है । आयुर्वेद की परम्परा रही है कि औषधि को किसी-न-किसी वस्तु मे मिलाकर खाया जाता है । किस औषधि को किस वस्तु मे मिलाकर खाना है, इसका निर्णय वैद्य करते हैं । और उस वस्तु को अनुपान कहा जाता है । वैद्य जो अनुपान बताते है, उसका ठीक ठीक पालन होना चाहिए । औषधि तथा अनुपान का निर्णय होने के पश्चात् तीसरी जो महत्वपूर्ण वस्तु है वह है **पथ्य** । जिन वस्तुओ के सेवन से रोग उत्पन्न होते हैं, उसे कुपथ्य कहते है और जिन वस्तुओ का सेवन रोगी के लिये हानिप्रद नही, बल्कि लाभप्रद है, उसे पथ्य कहा जाता है । वैद्य दवा और अनुपान के साथ पथ्य भी बताते है । ये तीनो समान रूप से महत्वपूर्ण है । औषधि तो रोग दूर करने के लिये दी जाती है । पर जिस वस्तु के सेवन से रोग उत्पन्न हो रहा है, उसे अगर बन्द न किया जाय तो केवल औषधि से क्या लाभ होगा? एक ओर कुपथ्य रोग की सृष्टि करेगा । अत: रोगी के लिये यह आवश्यक है कि वह वैद्य, औषधि अनुपान और पथ्य – इन चारो का सामंजस्य बनाये रखे ।

इन चारो का ठीक ठीक सामंजस्य हुआ या नही, इसकी कसौटी क्या है? रोगी को स्वयं बोध होने लगता है कि मेरा रोग घट रहा है । व्यक्ति को जब रोग होता है, तो प्राय: उसकी भूख काफी कम हो जाती है और जब वह स्वस्थ होने लगता है, तब उसकी भूख भी बढ़ने लगती है । रोग की स्थिति में शरीर बड़ा दुर्बल हो जाता है, पर जब रोग दूर होने लगता है, तब व्यक्ति के शरीर मे बल की वृद्धि होने लगती है । रोगी स्नान करने से डरता है कि कही रोग बढ़ न जाय । स्वस्थ होने के उपरान्त वैद्य के आदेशानुसार स्नान करने पर उसे स्वच्छता और स्फूर्ति का अनुभव होता है; खुलकर भूख लगती है; भोजन करने पर बल का अनुभव होता है और तब उसे अनुभव होता है कि अब उसका रोग दूर हो गया है ।

शारीरिक रोगो के सन्दर्भ में बताये गये ये ही सारे उपादान कागभुशुण्डि जी ने यहाँ मनोरोगो के सन्दर्भ में भी प्रस्तुत किये हैं । उन्होंने कहा कि मन के रोगो को दूर करने के लिए भी सद्गुरु रूपी वैद्य चाहिए; फिर उनकी वाणी पर विश्वास चाहिए; और वे जो दवा देते है, जो अनुपान तथा पथ्य बताते है, उस पर श्रद्धा रखकर रोगी को पूरी निष्ठा के साथ उसका पालन करना चाहिए ।

वह दवा क्या है? **रघुपति भगति सजीवन मूरी** – भगवान की भक्ति ही दवा है । अनुपान क्या है? **अनूपान श्रद्धा मति पूरी** – श्रद्धा के अनुपान मे मिलाकर भक्ति की दवा का सेवन करें । और पथ्य क्या है? **संजम यह न विषय कै आसा** – विषय सुख की आशा ही कुपथ्य है । इस कुपथ्य को त्याग दो और **सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा** – सद्गुरु के, सन्तों के वचन पर विश्वास का सेवन करना ही पथ्य है । इसके बाद स्वस्थता आयेगी और तब भूख लगेगी । कैसी भूख? – **सुमति क्षुधा** । शरीर के रोगी को जब भूख लगती है, तो वह पेट की भूख होती है, परन्तु मन का रोगी जब स्वस्थ होता है, तब उसकी जो भूख जाग्रत होती है, वह है बुद्धि की भूख ।

उसकी बुद्धि में जिज्ञासा की भूख बढ़ती है। शरीर का रोगी स्वस्थ होने पर जैसे भोजन करके बल का अनुभव करता है, वैसे ही मन का रोगी भी स्वस्थ होने पर बुद्धि के द्वारा विचारों का भोजन करता है और तब उसे बल का अनुभव होता है। मन का रोगी स्वस्थ होकर, सद्गुरु के वचनों को ग्रहण कर किस बल का अनुभव करता है? बड़ी सांकेतिक भाषा है। जब भूख रूपी जिज्ञासा की वृत्ति आयी, भोजन के रूप में सद्गुरु के वचनों को श्रद्धा-विश्वास के साथ ग्रहण किया। तब बल के रूप में वैराग्य आया। तब गुरु ने कहा, स्नान करो। किस जल से? ज्ञान के विमल जल से –

जब उर बल बिराग अधिकाई ।।
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई ।
तब रह राम भगति उर छाई ।। ७/१२२/९, ११

इतनी साधना के बाद जब मन का रोगी ज्ञान के विमल जल में स्नान करता है, तो उसके मन में एक नयी चेतना, नयी स्फूर्ति आती है, स्वच्छता आती है। तब इसके परिणाम से पूर्ण स्वस्थता के रूप में उसके हृदय में भगवान की भक्ति निरन्तर वास करती है।

इस प्रकार शरीर के रोग-लक्षणों से मानस-रोगों के लक्षणों की तुलना करते हुए सद्गुरु को वैद्य कहा गया है। भगवान श्रीरामकृष्ण देव के उपदेशों में आये दृष्टान्त से वह और भी स्पष्ट हो जाता है। 'मानस' के भी विविध प्रसंगों में इसका दृष्टान्त दिया गया है कि यह सामंजस्य किस प्रकार होता है। श्रीरामकृष्ण के उपदेश में जो नौका, मल्लाह आदि का दृष्टान्त है, वही 'मानस' के उत्तर-काण्ड में स्वयं भगवान श्रीराम द्वारा दिया गया है। भगवान श्री राघवेन्द्र का राज्य स्थापित हो गया है। वे सारी प्रजा को आमंत्रित करते हैं और उनके सामने एक उपदेशात्मक, एक अनुरोध भरा भाषण देते हैं। बड़ा सांकेतिक क्रम है। साधारणतया राज्य की परम्परा यह है कि राजा नियम और शासनतंत्र के द्वारा प्रजा को चलाते हैं। शासनतंत्र में विवेक को जागृत करने की चेष्टा तो की ही जाती है, लेकिन शासनतंत्र मुख्य रूप से भय और प्रलोभन की वृत्ति से ही चलता है। शासन की ओर से दण्ड की व्यवस्था की जाती है – अगर कोई इस तरह का अपराध करेगा, तो उसे यह दण्ड मिलेगा। दूसरी ओर शासन के द्वारा सम्मान भी किया जाता है – जो सत्कर्म करते हैं, उन्हें धन या उपाधि के द्वारा सम्मान तथा प्रलोभन दिया जाता है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि व्यक्ति प्रलोभन के आकर्षण से अच्छा कार्य करे और दण्ड के भय के कारण बुराई तथा नियम-विरुद्ध कार्य करने से बचे। शासन-तंत्र में इस भय तथा प्रलोभन का विधान तो होना ही चाहिए। इसकी उपादेयता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु उसकी मर्यादा क्या हो? किस सीमा तक और किस मात्रा में इसका प्रयोग हो? प्रलोभन से व्यक्ति सत्कार्य तो करे, पर जब उसे लाभ में सन्तोष न हो, तो और अधिक लाभ का प्रलोभन दें; और लोभ अगर इसी तरह बढ़ता ही जाय, तो इसका परिणाम क्या होगा? इसी तरह कठोर कानून के द्वारा यदि भय दिखाना पड़े, तो भी व्यवस्था बिगड़ती जाय और तब और भी कठोरतर भय की सृष्टि करनी पड़े, तो इसका क्या तात्पर्य होगा? यही कि समाज सही दिशा में नहीं बढ़ रहा है। वह अधोगामी हो रहा है। भय और प्रलोभन का भी सदुपयोग है, पर उसकी कसौटी क्या है? भगवान श्री राघवेन्द्र ने जो राज्य स्थापित किया उसमें आपको इसी का संकेत मिलेगा। वहाँ पर समाज का क्रमिक विकास है।

भगवान श्रीराम भी जीवन में भय और लोभ की उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। विभिन्न प्रसंगों में वे भी लोभ अथवा भय की सृष्टि करते दिखाई देते हैं। सुग्रीव के प्रसंग में दोनों का प्रयोग है। राज्य देकर तथा उनकी पत्नी वापस दिलाकर उनके लोभ और कामना की पूर्ति भी की गयी और मृत्यु का भय दिखाकर उन्हें भयभीत भी किया गया है। इन दोनों का सदुपयोग करके सुग्रीव के जीवन को परिवर्तित किया गया। और आगे चलकर आप देखेंगे कि सुग्रीव का जीवन क्रमशः विकसित होकर भय तथा प्रलोभन से सर्वथा मुक्त हो जाता है और विवेक के द्वारा परिचालित होता है। यही रामराज्य के क्रमिक विकास की प्रणाली है। इसी प्रकार से विभीषण के जीवन में लोभ की सृष्टि की गयी है। और वहाँ पर भी उनके जीवन में लोभ और भय का विकास नहीं, अपितु क्रमशः उनका ह्रास है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेरे मन में पहले लोभ अवश्य था –

उर कछु प्रथम बासना रही ।
प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ।। ५/४९/६

विभीषण के हृदय में लोभ की वृत्ति प्रारम्भ में भले ही रही हो, परन्तु भगवान के निकट आते ही वह कम होते हुए अन्त में स्थिति यह होती है कि लंका का राज्य दिये जाने पर वे भगवान राम से यही प्रार्थना करते हैं – आप कृपा करके लंका चलें, थोड़ी देर वहाँ विश्राम करें और यह लंका का राज्य तो वस्तुतः आपका ही है। आप जिनको जो देना चाहें, दीजिये –

अब जन गृह पुनीत प्रभु कीजे ।
मज्जनु करिअ समर श्रम छीजे ।।
देखि कोस मंदिर संपदा ।
देहु कृपाल कपिन्ह कहुँ मुदा ।। ६/११६/५-६

इसका अभिप्राय है कि उनके अन्तःकरण में त्याग और वितरण की प्रक्रिया जाग्रत हो गयी है। इस प्रकार से क्रमिक विकास के बाद लोभ और भय की वृत्ति के ऊपर उठने के बाद रामराज्य की स्थापना होती है।

अब प्रश्न यह है कि रामराज्य में व्यक्ति जब लोभ और भय से ऊपर उठ जाता है, तब वह कुछ करता है या नही?

क्योंकि मनुष्य तो प्राय: लोभ और भय से ही प्रेरित होकर कर्म करता है । गोस्वामी जी ने कहा है कि रामराज्य में लोभ और भय तो बिल्कुल नही है, पर एक कार्य ऐसा है जिसे व्यक्ति निरन्तर करता रहता है । याद रहे, कुछ काम तो ऐसे होते है जिन्हे कुछ देर ही करना पड़ता है, उसके बाद उस काम से छुट्टी मिल जाती है, पर कुछ काम ऐसे होते हैं जिसके बारे में आप सोच भी नहीं सकते कि बस अब यह कार्य नहीं करेगे ।

जब रोग हो जाता है तो हम वैद्य के पास जाते है, दवा लेते है । स्वस्थ हो जाने पर भूख लग आती है । भोजन के बाद बल आ जाता है । परन्तु इसका यह मतलब नही कि हम निश्चिन्त होकर यह सोचने लग जायें कि अब तो हम स्वस्थ हो गये, जो मन में आये वही करने को स्वतंत्र हो गये । क्योंकि यदि हम मनमानी करेगे, तो उस रोग के लौट आने में देर नही लगेगी । अभिप्राय यह कि साधना या स्वस्थता की जो प्रक्रिया है, वह कुछ दिनो की नही है । वह तो जीवन भर चलनेवाली प्रक्रिया है । 'मानस' मे श्रीभरत के लिये एक बड़े सुन्दर वाक्य का प्रयोग किया गया है । जैसे किसी सर्राफ के पास सोना लेकर जाने पर वह उसे कसौटी पर कसकर एक बार देखेगा, लेकिन गोस्वामी जी से पूछा गया कि भरत जी चौदह बरस तक तप ामय जीवन व्यतीत करते रहे, इसका क्या उद्देश्य था? गोस्वामी जी बोल – जैसे कसौटी पर सोना कसा जाता है, वैसे ही भरत जी नित्य चौदह वर्षो तक तपस्या की कसौटी पर अपने शरीर को कसकर देखते रहे । बड़ा आश्चर्य होता है पढ़कर! यही वाक्य है गोस्वामी जी का –

लखन राम सिय कानन बसहीं ।
भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं । २/३२६/२

इसका अर्थ क्या हुआ । भाई, सोने को एक बार परखकर आप भले ही प्रमाण-पत्र दे दे कि यह सोना खरा है । और तब वह सोना जीवन भर खरा रह सकता है, पर मन के सन्दर्भ में, जीवन के सन्दर्भ मे जो व्यक्ति यह मानकर निश्चिन्त हो जाता है कि अब मेरे जीवन मे खोटापन आने की सम्भावना नही है, वह भ्रम मे है । यह जीवन तो ऐसा है कि इसे निरन्तर कसते ही रहना चाहिए । यह कभी न समाप्त होनेवाली निरन्तर प्रक्रिया है । इसलिये गोस्वामी जी ने कहा – भरत जी घर ही मे रहकर तप के द्वारा शरीर को कस रहे हैं ।

उन्होंने कहा कि रामराज्य मे भी लोग निरन्तर एक प्रयत्न करते रहत हैं । एक बात पर आपने ध्यान दिया होगा कि गोस्वामी जी जब रामराज्य का वर्णन करते हैं, तो वे उसमे सेना का वर्णन नही किया । किसी ने उनसे पूछा – महाराज, सेना तो राज्य का अंग है; आपने उसका वर्णन क्यो नही किया? गोस्वामी जी हँसकर बोले – "भाई, सेना तो किसी शत्रुराष्ट्र को हराने के लिये रखी जाती है, शत्रु से रक्षा के लिये रखी जाती है । जब रामराज्य मे कोई किसी का शत्रु ही नही था, कोई विरोधी राष्ट्र ही नही था, तो सेना की क्या जरूरत?" गोस्वामी जी से पूछा गया, "तब तो रामराज्य में लोगो के पास कोई काम ही नही रहा होगा । जब युद्ध नही होता था, तो लोग करते क्या थे?" उन्होने उत्तर दिया, "ऐसी बात नही है, युद्ध बन्द नही हुआ था, रामराज्य मे तो निरन्तर युद्ध चलता रहा । अयोध्या का नागरिक एक युद्ध तो निरन्तर लड़ता रहता था ।" – "कौन-सी लड़ाई लड़ता था?" गोस्वामी जी कहते हैं, "बड़ी कठिन लड़ाई थी । साधारण लड़ाई तो कुछ दिन या साल-दो साल मे समाप्त हो जाती हैं । पर यह लड़ाई जीवन भर चलती है । गोस्वामी जी का वह दोहा आपने पढ़ा होगा –

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज ।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज ।। ७/२२

– श्रीरामचन्द्र के राज्य मे दण्ड संन्यासियो के हाथ मे है, भेद केवल नाचनवालो के समाज मे है और 'जीतो' शब्द केवल मन को जीतन क सन्दर्भ मे ही सुनाई पड़ता है ।

प्रत्येक व्यक्ति मन को वश मे रखने की साधना में सजग रहता है और निरन्तर यह चेष्टा करता रहता है कि हमारे मन मे कोई विकृति या दोष न आने पाये । इसीलिए गोस्वामी जी ने एक सांकेतिक सूत्र दिया । भगवान श्रीराम जब लंका-विजय के बाद लौटकर अयोध्या आये, तो वहाँ क्रम थोड़ा बदल गया । उन्होंने आते ही गुरु को प्रणाम करने के पूर्व एक कार्य किया । पहले उन्होंने अपने कन्धे से धनुष-बाण को उतारकर उनके चरणों मे रख दिया और तब प्रणाम किया । किन्तु प्रणाम हो जाने के बाद फिर उन्होने धनुष-बाण को उठाया नही । आश्चर्य हुआ । किसी ने भगवान से पूछ लिया – आपने धनुष-बाण क्यो नही उठाया? वे बोले – अस्त्र-शस्त्र का जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया; अब रामराज्य शस्त्र के आधार पर नहीं, बल्कि शास्त्र के आधार पर, विवेक के आधार पर चलेगा । इसलिये गोस्वामी जी ने एक प्रतीकात्मक संकेत यह चुना कि रामराज्य के संचालन मे भगवान राम एक भाषण देते हैं । तो इसका अभिप्राय क्या हुआ? सत्संग और भाषण का उद्देश्य होता है व्यक्ति के विवेक को चैतन्य करना, विवेक को जाग्रत करना । साधारणतया परम्परा यह रही है कि राजा संविधान के द्वारा राज्य चलाता है । और सन्त तथा उपदेशक विवेक और विचार की प्रेरणा देने की चेष्टा करते हैं । परन्तु भगवान श्रीराम के जीवन मे इन दोनो का सामंजस्य मिलता है ।

सिहासनारूढ़ होने के बाद उन्होंने अपनी प्रजा को निमंत्रण दिया और उनक समक्ष बड़ा ही सुन्दर और विलक्षण भाषण दिया । आप लोगा मे से जो रामायण का पाठ करते हागे, उन्होंने श्रीराम के उस भाषण को पढ़ा होगा । वहाँ पर भी एक सांकेतिक क्रम है । भगवान श्रीराघवेन्द्र का यह जो भाषण है, उसका मूल तत्त्व क्या है?

भगवान श्रीराम के चरित्र में उपदेश सुनने की वृत्ति तो बहुत दिखाई देती है, पर उपदेश देने की वृत्ति बहुत कम है। जब कोई बहुत आग्रह करता है, तब श्री राघवेन्द्र कुछ बोलते हुए दिखाई देते हैं। लक्ष्मण जी भी जब बड़ी श्रद्धापूर्वक भगवान से जिज्ञासा करते हैं, तभी वे उपदेश देते हैं। परन्तु उनका अन्तिम उपदेश बड़ा विस्तृत और बड़ा गम्भीर है। इस उपदेश की विशेषता क्या है? भगवान राम ने अपने नरलीला में जो उपदेश दिया है, उसे केवल वाणी से नहीं कहा, अपितु पहले उन्होंने अपने जीवन में उसे आचरित किया, क्रियान्वित किया। यह है प्रक्रिया। भगवान राम के चरित्र में जो जीवन-दर्शन है, उसमें कोई क्रमिक विकास नहीं है। यह क्रमिक विकास तो ससीम में होता है। जो असीम है, पूर्ण है, उसमें विकास का कोई प्रश्न ही नहीं। पर इतना होते हुए भी श्री राघवेन्द्र ने नरनाट्य में साधना के क्रम को जिस रूप में प्रकट किया – शरीर, सद्गुरु, साधना, भगवत्कृपा – इन सबका एक सामंजस्यपूर्ण स्वरूप इस भाषण में प्रस्तुत किया।

कानून में तो यह भय होता है कि ऐसा नहीं करेंगे, तो ऐसा होगा, परन्तु भगवान राम जब अपनी प्रजा के सामने भाषण देते हैं, तब उसमें विशेषता क्या है? जैसे गीता में भगवान श्रीकृष्ण सारा उपदेश देते हैं, परन्तु अन्त में एक अनोखी बात कहते हैं। वे अर्जुन से कह देते हैं –

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरू।। १८.६३

– यह परम गोपनीय ज्ञान मैंने तुम्हें बता दिया है, अब इस पर भलीभाँति विचार करके तुम्हें जो ठीक लगे, वैसा करो।

इसी तरह भगवान श्री राघवेन्द्र ने भी पुरवासियों के समक्ष भाषण देते हुए कहा –

सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई।। ७/४२/४

– मैंने जो बाते कही, उसे मानने के लिये आप बाध्य नहीं है। आप लोग उस पर विचार करें, और जब वह आपको उपयुक्त लगे, तो उसे जीवन में धारण करने की चेष्टा करें।

भगवान राम ने इस भाषण में जीवन का जो एक स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसमें मनुष्य जीवन की तुलना नौका में यात्रा करनेवाले व्यक्ति से की गयी है। तुलना करते हुए श्री राघवेन्द्र कहते हैं – "भाई, जैसे कोई नदी या समुद्र को पार करना चाहे, तो उसे नाव चाहिए। नौका दृढ़ होनी चाहिए और नाव चलानेवाला चतुर मल्लाह चाहिए। नाव में अगर पाल लगी हो तो और भी अच्छा है। पाल में हवा लगने पर नाव की गति में तीव्रता आयेगी।"

भगवान श्री राघवेन्द्र अयोध्यावासियों के सामने जीवन की एक नयी परिभाषा रख देते हैं। हमारे यहाँ शास्त्रों में आत्महत्या को महानतम पाप बताया गया है। यह कहकर निन्दा की गई है कि आत्महत्या करनेवाले को कभी सद्गति नहीं मिलती। यह बात केवल व्यक्ति को आत्महत्या से विरत करने हेतु पाप का आतंक पैदा करने के लिये नहीं, बल्कि यह बताने के लिये है कि यह सबसे निकृष्ट कार्य है। फिर भी हम समाचार-पत्रों में प्रायः देखते हैं, साल भर में पूरे देश में या विश्व में कितने ही लोग आत्महत्या कर लेते हैं। पर रामायण में तो कहा गया कि यदि गहराई से विचार करके देखें, तो इस गणना में जितने लोग आते हैं, आत्महत्या करनेवाले केवल इतने ही नही हैं, आत्महत्या करनेवालों की संख्या तो इससे भी बहुत अधिक है। यदि गहराई से विचार करके देखें, तो वस्तुतः हम लोग स्वयं भी अपने जीवन में आत्महत्या ही तो कर रहे हैं। श्री राघवेन्द्र ने अयोध्यावसियों से यही कहा कि आप आत्महत्या कभी मत कीजिये। कोई कह सकता था – "महाराज, व्यक्ति तो आत्महत्या करता है किसी अभाव में, किसी पीड़ा के कारण या कोई संकट पड़ने पर। जब आपके राज्य में कोई अभाव नहीं, कोई पीड़ा नहीं है, तो कोई आत्महत्या क्यों करेगा?" भगवान कहते हैं – मैं उस आत्महत्या के सन्दर्भ में नहीं कह रहा हूँ। आत्महत्या के सन्दर्भ में विचार करके देखें। इसकी इतनी निन्दा क्यों की गई है? इसलिए कि ईश्वर ने हमें शरीर दिया और हमने उसे नष्ट किया। इससे बढ़कर अपराध और क्या हो सकता है? नष्ट कर देने का अर्थ क्या है? क्या केवल जहर खा लेना, आग लगा लेना या गाड़ी के नीचे आ जाना ही शरीर को नष्ट करना हुआ? यदि हम स्वयं अपने जीवन पर दृष्टि डाले, तो लगेगा कि आखिर हम भी तो वही कर रहे हैं। अन्तर केवल इतना है कि जो इस तरह से शरीर को नष्ट कर देते हैं, वह तत्काल दिखाई दे जाता है। और हम लोग जो कर रहे हैं, वह तिल तिल कर प्रतिक्षण कर रहे हैं। यह भी आत्महत्या नहीं तो और क्या है? इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने हमें जो कुछ दिया है, जिस उद्देश्य से दिया है, उस उद्देश्य की पूर्ति न करके उस वस्तु को हम निरर्थक नष्ट कर रहे हैं। श्री राघवेन्द्र की दृष्टि में तो ईश्वर के दिये हुए इस मानव-जीवन का सदुपयोग न करना ही आत्महत्या है।

श्रीरामकृष्ण द्वारा नाव का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका 'मानस' के विचारों से साम्य है। भगवान श्रीराम कहते है –

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो।
सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।।
करनधार सद्गुर दृढ़ नावा।
दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।। ७/४४/७-८

– यह नरदेह ही भवसागर पार करानेवाली नौका है, सद्गुरु ही मल्लाह हैं और मेरी कृपा पाल में भरनेवाली वायु है।

साधना, सद्गुरु, कृपा और मनुष्य-जीवन का सदुपयोग – इनका सामंजस्य जिस व्यक्ति के जीवन में आ गया, वही सच्चे अर्थों में अपने जीवन का सदुपयोग कर रहा है, जीवन को

सही दिशा में ले जा रहा है । जो व्यक्ति यह सामंजस्य नहीं कर पाता, वह जीवन का ठीक सदुपयोग नहीं कर पाता और काल, कर्म तथा ईश्वर को दोष देता है । भगवान ने स्पष्ट कह दिया कि जो व्यक्ति अपने जीवन, साधना, सद्गुरु और कृपा का सदुपयोग नहीं करता; साधना तथा पुरुषार्थ से भागता है और कहता है कि भगवान ने जैसा कराया, वैसा मैंने किया । जो लोग ऐसी चतुराई के अभ्यस्त हैं, वे स्वयं का दोष न देखकर या तो काल को दोष देते हैं या कर्म को या ईश्वर को। भगवान कहते है कि जहाँ इतनी वस्तुएँ मिली हुई है, एकत्रित हो गयी है – मनुष्य-जीवन, सद्गुरु, साधना, कृपा – जो इन सबका सदुपयोग नही कर रहा है, वह –

सो परत्र दुख पावइ, सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ।। ६/४३

भगवान श्री राघवेन्द्र ने कहा कि ईश्वर ने काल-कर्म की सृष्टि की है, तो उसके साथ साथ व्यक्ति के कल्याण के लिये यह द्वितीय पक्ष भी प्रस्तुत किया है । यह तो बड़ी सरलता से समझ मे आनेवाली बात है कि हम रोग पर विश्वास करें, पर दवा पर न करें, तो इससे बढ़कर पागलपन और क्या होगा! रोग यदि सत्य है, तो उसे मिटानेवाली दवा भी सत्य है । भगवान श्रीराम अपने इस उपदेश में यही सांमजस्य उपस्थित करते है, यहाँ पर उसकी मात्रा की ओर भी बड़ा सुन्दर संकेत किया गया है । आइये, इस पर थोड़ी गहराई से विचार करें ।

भगवान राघवेन्द्र ने पहले तो शरीर को लिया । बोले – यह जो मनुष्य-शरीर मिला, यही ईश्वर की कृपा है । ईश्वर की कृपा तो उसी समय प्रमाणित हो गई, जिस समय व्यक्ति को मनुष्य का शरीर मिला । भगवान राम ने कहा कि ईश्वर की कृपा का सबसे बड़ा और स्पष्ट प्रमाण तो यही है –

कबहुँक करि करुना नर देही ।
देत ईस बिनु हेतु सनेही ।। ७/४४/६

बल्कि यहाँ तो भगवान ने एक बड़ी मधुर बात कही कि मनुष्य का शरीर कर्म से नहीं मिलता । बात तो बड़े पते की है । यदि आप समझते हैं कि यह मनुष्य शरीर हमें अपने कर्म के परिणामस्वरूप मिला है, तो यह बताइये कि बिल्ली, कुत्ता, सूकर, शेर बनकर आपने कौन-सी साधना की होगी, जिसके परिणामस्वरूप आपको मनुष्य शरीर मिला? पशु शरीर में तो कोई ऐसी साधना सम्भव ही नहीं है कि जिसके परिणामस्वरूप हमें मनुष्य-शरीर मिल जाय । भगवान कहते हैं कि यह मानना ही भूल है कि यह मनुष्य-शरीर किसी कर्म का फल है । इसके पीछे एक बड़ा सांकेतिक भाव है । एक सिद्धान्त यह भी है कि मनुष्य-शरीर कर्म का परिणाम है । अब यह मानकर चलने में कल्याण है कि मनुष्य-शरीर कर्म का परिणाम है या फिर यह मानकर चलने मे कि मनुष्य-शरीर ईश्वर की कृपा का परिणाम है? जो चतुर नही होगा, वह तो मनुष्य-जीवन को कर्म का परिणाम मानकर समस्या उत्पन्न कर लेगा और जो व्यक्ति उसे ईश्वर की कृपा से जोड़ देगा, वह बड़ी बुद्धिमत्ता से इस समस्या को सुलझा लेगा । इसका अभिप्राय यह है कि यदि यह हमारे ही कर्मों का परिणाम है, तो आगे भी हमें अपने सारे कर्मो का परिणाम भोगना होगा, उससे हम बच नहीं सकते, हम जो भी अच्छे-बुरे कर्म करेंगे उसका फल हमें भोगना होगा। अभिप्राय यह हुआ कि यह चक्र निरन्तर चलता ही रहेगा । विभिन्न योनियों में जीव निरन्तर घूमता रहेगा । लेकिन जब हम यह मानते है कि मनुष्य-जीवन भगवत्कृपा से मिला, तो एक विशेष बात आ गयी । क्या? अब गोस्वामी जी को देखिये, वे कितने चतुर है । ये भक्त लोग बड़े चतुर होते हैं । ये बुद्धि का समर्थन तो नहीं करते, पर इतनी चतुराई की बात करते हैं कि एक बार भगवान को भी हँसी आये बिना नहीं रहेगी । विनय-पत्रिका में गोस्वामी जी भगवान की सभा में खड़े हैं और लगे भगवान को धन्यवाद देने, कह रहे हैं – महाराज, मैं आपको धन्यवाद देने, कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिये आया हूँ । भगवान बोले – भाई, मैंने ऐसा क्या दे दिया, तुम्हारे लिए ऐसा क्या कर दिया, जो तुम मुझे धन्यवाद दे रहे हो? तब गोस्वामी जी ने यहीं से शुरू किया – प्रभो, आपने बहुत अनुग्रह किया । – क्या अनुग्रह किया? – महाराज, आपने ऐसा विलक्षण शरीर दिया, जिसके द्वारा व्यक्ति भवसागर पार कर सकता है –

हरि! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम बिबुध-दुरलभ तनु,
मोहि कृपा कर दीन्हों ।। (विनय. १०२)

इस शरीर की विशेषता यह है कि यह देवताओं के लिये भी दुर्लभ है । एक पशु को ऐसा देवदुर्लभ मनुष्य शरीर मिल गया, यह तो आपके महानतम कृपा का ही परिणाम है । आगे बधाई देते हुए कहने लगे –

कोटिहु मुख कहि जात न
प्रभु के एक एक उपकार ।।

आपने हमें यह जो शरीर दिया, मनुष्य जीवन दिया और उसके बाद आपने हम पर जितने उपकार किये, उनकी गणना यदि हम करने लगे, तो करोड़ों मुखों से भी वह पूरी नहीं हो सकेगी । प्रभु को हँसी आ गयी । बोले – तुम जो मेरी कृपा और उपकार गिना रहे हो, क्या उनका बदला चुकाने का भी कोई विचार है? बस, गोस्वामी जी ने भक्त की चतुराई-भरी भाषा का प्रयोग किया । बोले – महाराज, मेरे सामने एक बड़ी भारी समस्या आ गयी है । – क्या? बोले – ऋण लेनेवाले दो तरह के होते हैं । एक तो ऋण लेकर चुकाते हैं और दूसरे नहीं चुकाते । अब ऋण लेकर वह चुकाता है जिसमें ऋण चुकाने की सामर्थ्य होती है; पर यदि कोई व्यक्ति इतना ऋण ले ले कि उसे चुकाने मे वह समर्थ ही न हो, तो उसे यही लगता है कि

दिवालिया तो अब बनना ही है, बदनामी तो अब होने ही वाली है, तो और भी जितना लेते बने ले लो । बोले – महाराज, आपने कृपा तो बहुत कर दी, पर इतनी अधिक कर दी कि उसका बदला तो अब मैं चुका नहीं सकता । – तो फिर तुमने क्या सोचा है? बोले – मैंने तो वही सोचा है, जो इस तरह के लोग सोचा करते हैं । – क्या? – महाराज, सोचता हूँ कि आपसे थोड़ा और माँग लूँ –

तदपि नाथ कछु और माँगिहौं, दीजे परम उदार ।।

– अरे, अभी तो तुम कह रहे थे कि बड़ी कृपा की आपने, देवदुर्लभ शरीर दिया, यह दिया, वह दिया, मेरी इतनी प्रशंसा कर रहे थे और अब फिर माँग रहे हो? तब गोस्वामी जी ने मन की समस्याओं के बारे में एक दृष्टान्त देते हुए कहा – प्रभो, मेरी समस्या यह है कि जैसे मछली जल से अलग नहीं रह पाती, यदि उसे जल से अलग कर दिया जाय, तो बेचैन हो जाती है, प्राण तक छोड़ देती है; वैसे ही मेरा मन क्षण भर के लिये भी इस संसार के विषयों से अलग नहीं होता ।

बड़ी विचित्र बात है – **साधनधाम बिबुध दुरलभ तनु ।।** ईश्वर ने शरीर दिया है साधना के लिए, परन्तु अधिकांश लोगों ने शरीर को ही साध्य बना लिया । दोनों में मूलभूत अन्तर इतना ही है । शरीर के महत्व को कम नहीं किया, पर उद्देश्य बदल गया । साधन को ही साध्य बना लिया । दो प्रकार के लोग हैं – एक वे है जो शरीर को साध्य मानते हैं और दूसरे वे जो शरीर को साधन मानते हैं । संसार में अधिकांश व्यक्ति तो शरीर को साध्य मान बैठे हैं ।

आप यह मत समझ बैठियेगा कि भक्ति कोई बहुत ऊँची, कोई बड़ी दुर्लभ वस्तु है । अरे भाई, हम और आप तो जितने बड़े भक्त हैं और जितनी भक्ति हमारे जीवन में है, उसकी तो कोई सीमा नहीं है, पर हमारा आराध्य बड़ा विचित्र है । किसी ने गोस्वामी जी से कहा कि लक्ष्मण जी तो वन में भगवान की बड़ी सेवा करते हैं, बड़ा प्रेम करते हैं । गोस्वामीजी ने कहा – क्या बहुत करते है? संसार में तो उसका दृष्टान्त नित्य ही दिखाई देता है । – कहाँ? गोस्वामी जी कहते है – ये संसार के अज्ञानी जैसे शरीर की सेवा करते हैं, वैसे ही लक्ष्मण जी भगवान राम की सेवा कर रहे हैं –

सेवहि लखनु सीय रघुबीरहि ।
जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि ।। २/१४१/२

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रात-दिन चौबीसों घण्टे हमारी चर्या नित्य शरीर की पूजा में ही लगी हुई है । देवमूर्ति की पूजा तो हम घण्टे या दो घण्टे करते हैं, तो बड़े गर्व से कहते हैं कि हम रोज दो घण्टे पूजा करते हैं, पर शरीर की यह पूजा तो रात-दिन चौबीसों घण्टे चलती रहती है । यह शरीर ही हमारा देवता, हमारा साध्य बन गया है । हर क्षण इसी की चिन्ता है, इसी को सुख-सुविधा देने की व्यग्रता है ।

तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने शरीर दिया है साधन के लिये । अब इसे दृष्टान्त के लिये हम यों कहें कि नौका बड़े महत्त्व की वस्तु है, लेकिन दो प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं । एक व्यक्ति तो ऐसा है जो नौका को महत्त्वपूर्ण मानकर नौका पर बैठे और नदी पार कर ले । वह बुद्धिमान है । और दूसरा व्यक्ति सम्भव है कि नौका से इतना प्रभावित हो कि वह नौका को ही सिर पर लादकर ढोने लगे । नौका बड़े महत्व की वस्तु तो है, पर वह नदी पार करने के लिए महत्वपूर्ण है या ढोने के लिये? इसका अर्थ यह है कि शरीर को जब हम नौका बनाकर साधना के आश्रय से जीवन के लक्ष्य तक पहुँच जायँ, तब तो यह उसका सदुपयोग है, परन्तु यदि हम उस शरीर को ही ढोने लग जायँ, उसे इतना मूल्यवान मान लें कि निरन्तर उसी की सेवा में लगे रहे, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने जिस उद्देश्य से हमें वह वस्तु दी थी, उस उद्देश्य के निमित्त हमने उसका सदुपयोग नहीं किया ।

इसी बात को अब हम सांकेतिक भाषा में देखते हैं । महाराज दशरथ और दशमुख – दोनों के नाम के साथ 'दश' शब्द जुड़ा है । इसका सांकेतिक तात्पर्य यह है कि चाहे दशमुख की वृत्ति हो या दशरथ की – ये दश तो प्रत्येक व्यक्ति के पास विद्यमान है । प्रत्येक व्यक्ति को दस इन्द्रियाँ मिली हुई हैं । पर अन्तर केवल इतना ही है कि कुछ लोगों में इन दश के साथ रथ जुड़ा हुआ है । उनके जीवन में ये दश इन्द्रियाँ रथ के समान है, जैसा कि दशरथ जी के चरित्र में दिखाई देता है । और कुछ लोगों के इन दस के साथ मुख जुड़ा हुआ है । जो दशमुख रावण का चरित्र है ।

अभिप्राय यह है कि रथ का प्रयोग हम अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिये करते हैं और मुख का भोजन के लिए, रस का भोग करने के लिये । रावण का जीवन-दर्शन क्या है? उसे बड़ा विलक्षण शरीर मिला है । उसका शरीर बड़ा दिव्य तथा अद्भुत है और महाराज दशरथ का भी, पर दोनों के जीवन-दर्शन में एक मूलभूत अन्तर यह है कि रावण के जीवन में शरीर साध्य है और महाराज दशरथ के जीवन में वह साधन है । भगवान राम ने शरीर के लिए जिस विशेषण का प्रयोग किया, वह महाराज दशरथ के जीवन में दिखाई देता है –

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।। ७/४३/८

इसका अभिप्राय यह है कि अन्य योनियों में जो शरीर रचना है, उसका उद्देश्य स्पष्ट दिखाई नहीं देता, परन्तु यह मनुष्य शरीर की जो रचना की गयी है, उसे यदि कोई ध्यान से देखे तो स्पष्ट लगता है कि ईश्वर ने इसकी रचना एक विशेष उद्देश्य से की है । इसकी रचना इस पद्धति से की गई है कि उसका उपयोग व्यक्ति साधन या रथ के रूप में कर सकता है । दशरथ के जीवन में आप यही देखेंगे ।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (६७)

श्रीमती खिरोदबाला राय

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापों के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्री श्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशो का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशो का अनुवाद । – सं.)

मेरे एक चचेरे भाई को नेत्रों में अश्रु-सम्बन्धी रोग हुआ था । उसका आपरेशन कराने के लिए उसके माता-पिता उसे लेकर मेरे परिवार के अनेक लोगों के साथ कलकत्ते आये हुए थे । आपरेशन के पूर्व मैं उसे लेकर माँ के पास गयी । मैंने पहले से ही माँ को इस विषय में अवगत करा रखा था । माँ के पास जाकर उन्हें प्रणाम करते ही मैं (लड़के को दिखाकर) बोली, "माँ, इसी की आँखों का आपरेशन होगा ।" माँ ने कहा, "देखूँ कैसी आँखें है ।" देखने के बाद वे बोलीं, "बेटा, अब जैसे तरह तरह के रोग हुए है, वैसे ही डॉक्टर या चिकित्सक भी हुए हैं! पहले इतने रोग भी नहीं थे और लोग इतनी चिकित्सा भी नहीं जानते थे! इस राधू के ही तो कितने रोग है और कितनी चिकित्सा हो रही है! फिर मैंने कितने देवताओ की ही मन्नत की, परन्तु यह ठीक नहीं होती । ठाकुर की क्या इच्छा है, यह वे ही जानते हैं ।" माँ की बात सुनकर मैं थोड़ा-सा हँसी; सोचा – तुम तो कुछ भी नहीं जानती! बातों से तो ऐसा लगता कि मानो राधू ही उनकी सब कुछ हो । माँ अपने को खूब छिपाये रखती थीं, उनका चाल-चलन देखकर भला किसमें उन्हें पहचान पाने की क्षमता थी । उन्होंने स्वयं ही जिसे पहचनवा दिया है, केवल उसी ने माँ को पहचाना है ।

माँ ने बच्चे की आँखें देकर भला-बुरा कुछ भी नहीं कहा । मैं प्रणाम करके चली आयी । आँख का आपरेशन भलीभाँति हो गया । बाद मे गाँव लौटने के पूर्व मेरी चाची एक दिन सबेरे अपने बाल-बच्चो को साथ लेकर माँ का दर्शन करने गयीं । उस समय वे पाँव फैलाए बैठी ठाकुर के भोग के लिए फल काट रही थी । माँ ने चाची से कहा, "ये सब बाल-बच्चे क्या तुम्हारे है?" वे बोली, "हाँ माँ, सब मेरे ही हैं ।" माँ ने कहा, "अच्छा, अच्छा, देखती हो न, इनमें कितनी भक्ति है! सभी लड़के-लड़कियो ने साष्टांग प्रणाम किया है । बहू यहाँ का सब जानती है, तो भी तुम लोगों को सुबह के समय ले आई है; अभी तो ठाकुर की पूजा का समय है, तुम लोगों के साथ थोड़ी-सी बात भी नही कर सकूँगी ।" चाची बोलीं, "उसने इस समय आने से मना किया था, परन्तु हमारे पास दूसरा कोई समय नही है, इसीलिए अभी आयी हूँ । माँ, हम लोग गाँव जाते समय कुछ दिनो के लिए खिरोद को घर ले जाना चाहते है । इसमे आपका क्या मत है, यह जानने की इच्छा है ।" माँ ने कहा, "गाँव ले जाओगी, इसमें दोष ही क्या है? लेकिन राहखर्च देकर फिर वापस भेज देना होगा ।" सो तो होगा ही – कहकर वे लोग प्रणाम करके गाड़ी पर सवार हुईं ।

मेरी परिचित एक लड़की ने माँ को कभी देखा नहीं था और उसके पति को भी यह सब ज्यादा पसन्द नहीं था । एक दिन उस लड़की ने मुझे जोरों से पकड़ा – उसके पति दफ्तर जा चुके थे, उनके घर लौटने के पूर्व ही मैं उसे ले जाकर माँ का दर्शन करा आऊँ । मैं बोली, "इस समय माँ विश्राम करती हैं, अभी जाने से दर्शन नहीं हो सकेगा ।" उसने कहा, "चलो न, बाद में जो होगा, सो होगा ।" उसे साथ लेकर माँ के घर में प्रविष्ट होते ही मैंने देखा – गोलाप-माँ भोजन करने बैठी हुई थी । मैं उन्हीं के पास गयी । सोचा था – माँ के जागने पर दर्शन हो जायेगा ।" गोलाप-माँ मुझे देखते ही बरस पड़ीं, "यह तुम्हारा कैसा विचित्र काम है! इस समय इसे क्यों ले आयी? जानती नहीं कि यह माँ के विश्राम का समय है?" मैंने कहा, "डाँट क्यों रही हैं? मैं क्या इतनी ही पागल हूँ कि माँ के जगे बिना ही उनके पास चली जाऊँगी?" थोड़ी देर बाद सुना कि माँ मुझे बुला रही हैं, "बहू-माँ, इधर आओ ।" माँ के पास जाकर मैंने देखा कि वे तख्त के पास खड़ी हैं । वे बोलीं, "यह लड़की कौन है, बेटी? इस समय आने के कारण लगता है कि गोलाप तुम लोगों को डाँट रही है । यह ठाकुर का राज्य है । यहाँ कोई नियम-कानून नहीं है । यहाँ सभी के लिए द्वार खुले हैं । जब जिसे समय और सुविधा होगी, तभी आयेगा । तुम कुछ बुरा मत मानना, बेटी ।" हम लोग माँ को प्रणाम करके ही चली आयी । मैंने गोलाप-माँ से कहा, "देखा? आदमी कितनी पीड़ा लेकर माँ का दर्शन करने आता है! केवल माँ ही क्यो, आप लोगों के भी दर्शन करना चाहता है । परन्तु आप लोग माँ की द्वारपाल हैं न, आदमी को ढकेल कर विदा कर देना चाहती हैं । माँ केवल हम दो-चार की माँ नही, सबकी माँ हैं ।" गोलाप-माँ हँसते हुए बोलीं, "जा जा, तेरी ही जीत हुई ।" गोलाप-माँ, योगीन-माँ, गौरी-माँ, लक्ष्मी दीदी आदि हमें जैसा स्नेह किया करती थीं, वह अतुलनीय है।

कलकत्ते की लेडी-डॉक्टर श्रीमती प्रमदा दत्त का घर हमारे अंचल मे है । वे हमारी सम्बन्धी भी हैं । उनके पति भी डॉक्टर है । वे लोग ब्रह्मसमाजी हैं । श्रीमती प्रमदा दत्त के मन

में एक दिन माँ का दर्शन करने की इच्छा हुई और उन्होंने साथ ले जाने के लिए मुझे विशेष रूप से पकड़ा। एक दिन मैं राजी हो गयी। उन्होंने अपनी डॉक्टरी पोशाक की जगह एक लाल किनारी की साड़ी पहनी। पाँव में जूता भी नहीं पहना। सिर पर गंगाजल छिड़कने के बाद वे चल पड़ीं।

माँ के घर में प्रविष्ट होने के बाद सीढ़ी से ऊपर जाने के बाद ही बगल के एक कमरे में माँ की ध्यानावस्था का एक चित्र रहा करता था। उसे देखते ही प्रमदा देवी ने पूछा, "यह किसका चित्र है?" मैं बोली, "माँ का ही है।" काफी देर तक एकटक देखने के बाद उन्होंने कहा, "ये ही स्वयं राधा हैं।" मुझे हँसी आ गयी, ब्रह्मसमाजी होकर भी वे यह सब क्या कह रही हैं! ऊपर जाकर उन्होंने माँ को प्रणाम किया।

थोड़ी देर बाद माँ ने सरला दीदी से कहा, "उस बच्चे को लाकर इन्हें दिखाओ तो।" वह बच्चा किसका था, यह बात अब मुझे याद नहीं है। माँ के इतना कहते ही प्रमदा देवी ने धीरे से मुझसे पूछा, "इन्हें कैसे पता चला कि मैं डॉक्टर हूँ?" बाद में लड़के को दिखाया गया। शाम को चार बजे ठाकुर को मिष्ठान्न-भोग दिया गया। माँ ने सबको प्रसाद खाने को दिया, परन्तु प्रमदा देवी को नहीं दिया। मुझे इस पर थोड़ी लज्जा का बोध होने लगा। इधर श्रीमती प्रमदा मुझसे बारम्बार कह रही थीं, "सभी को प्रसाद दिया, मुझे क्यों नहीं दिया?" मैं बोली, "तुम माँ से ही पूछ लो न।" मेरे हाथ में जो प्रसाद था, उसे भी देने का मुझे साहस नहीं हुआ। प्रमदा देवी ने माँ से पूछा, "माँ, आपने सबको प्रसाद दिया, मुझे क्यों नहीं दिया?" माँ ने कहा, "बेटी, तुम ब्राह्म हो न, स्वेच्छा से माँगे बिना तुम्हें कैसे दूँ?" वे बोलीं, "मुझे थोड़ा-सा प्रसाद दीजिए।" माँ ने भी एक रसगुल्ला बचाकर रख दिया था, उसे उनके हाथ में दे दिया। प्रमदा देवी ने उस प्रसाद को आँचल में बाँध लिया और प्रणाम करने के बाद घर लौट आयीं। उन्होंने अपने पतिदेव से कहा, "देखो, आज मैं जहाँ गयी थी, वह एक स्वर्ग है। मैं जिनका दर्शन और स्पर्श कर आयी हूँ, वे स्वयं राधा हैं। तुम्हारे लिए थोड़ा-सा प्रसाद लाई हूँ। तुम यदि श्रद्धा के साथ ग्रहण करो, तो दूँगी।" वे बोले, "मेरे समान एक नगण्य व्यक्ति यदि माँ का प्रसाद न खाय, तो इससे जगदम्बा का क्या बनता-बिगड़ता है?" यह कहकर उन्होंने प्रसाद को हाथ में लिया और उसे सिर से लगाकर खा गये। प्रमदा देवी इन सारी बातों का वर्णन करने के बाद बारम्बार कहने लगीं, "आज वृन्दावन जाकर राधारानी के पादपद्मों का दर्शन कर आयी हूँ, धन्य हो आई हूँ।"

चाची आदि के गाँव लौटते समय मैं उन लोगों के साथ गयी नहीं। गाँव लौटकर मेरे चाचा ने मुझे एक पत्र भेजा। उन्होंने लिखा था, "बेटी, तुम आयी नहीं, इसके लिए बड़ा दुःख होता है। तुमने स्वयं को जगदम्बा के चरणों में अर्पित कर दिया है, यह सोचकर हमारे आनन्द का ठिकाना नहीं रहता। यदि कभी गाँव आओ, तो समस्त दोषों के जड़रूप मन को माँ के चरणों में बलि देकर आना। तभी फिर कोई चिन्ता नहीं रहेगी।" मैंने माँ को वह पत्र पढ़कर सुनाया। सुनकर माँ बोलीं, "मन क्या केवल दोष का ही मूल है? ब्रह्मपद पाने के लिए दौड़ रहे हो, तो मन को भी साथ लेना होगा। वहाँ पहुँच जाने के बाद ये सब कोई नहीं रह जायेंगे। इस समय मन की ही सहायता की विशेष जरूरत है। शुद्ध मन ही तो मनुष्य को मार्ग दिखाता है।" मैंने यह बात चाचा को लिख दी। श्रीमाँ ने एक बात और कहा था, "दुष्ट मन की यदि दिशा घुमा दो, तो वही इष्ट को पकड़ सकता है। अतः तुम लोगों के लिए चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं। ठाकुर तुम लोगों का हाथ पकड़े हुए हैं। सभी परिस्थितियों में सर्वदा तुम लोगों के साथ हैं।" माँ की इन सब बातों में कितनी शक्ति है, इसका जीवन में काफी अनुभव हुआ है।

एक दिन अपराह्न में कई महिलाएँ आयी हुई थीं। एक ने माँ से पूछा, "माँ, बहुत-से लोग कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु अवतार नहीं हैं। यह क्या सत्य है?" माँ बोलीं, "वे लोग ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि देहधारी एक मनुष्य की अवतार के रूप में धारणा कर लेना सहज नहीं है। संक्षेप में कहूँ तो यदि सभी लोग उन्हें अवतार के रूप में समझ पाते, तो फिर उन्हें मार खाकर प्रेम का वितरण नहीं करना पड़ता।" इतना कहते कहते माँ की आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। थोड़ी देर बाद वे कहने लगीं, "अवतारी पुरुष क्या सभी लोग समझ सकते हैं? केवल दो-चार लोग ही पहचान सकते हैं। वे लोग जीवों के उद्धार हेतु कितने कष्ट सहन करते हैं! ठाकुर के गले से रक्त निकला करता, तो भी उन्होंने बोलना बन्द नहीं किया, ताकि जीवों का मंगल हो सके।" इसके बाद माँ ने बताया कि चैतन्यदेव ने 'मागुर माछेर झोल (मागुर मछली की रसेदार सब्जी), युवती मेयेर कोल (युवती स्त्री का अंक), बोल हरि बोल' – का उपदेश किस भाव से दिया था, लोगों ने इसे किस रूप में समझा और इसका वास्तविक तात्पर्य क्या है। सब कुछ बताने के बाद अन्त में वे बोलीं, "अवतार से तुम लोगों का क्या लेना-देना है? जो जिसके गुरु हैं, वे ही उसके लिए अवतार से बहुत बड़े हैं – यही समझकर बैठी रहो।"

* "संसारी मनुष्यों से यदि कहो कि सब छोड़-छाड़कर ईश्वर के पादपद्मों में मन लगाओ तो वे कभी न सुनेंगे। यही कारण है कि गौरांग और नित्यानन्द दोनों भाइयों ने आपस में विचार करके यह व्यवस्था की – 'मागुर माछेर झोल (मागुर मछली की रसदार तरकारी), युवती मेयेर कोल (युवती स्त्री का अंक), बोल हरि बोल।' प्रथम दोनों के लोभ से बहुत आदमी 'हरि बोल' में शामिल होते थे। फिर तो हरि-नामामृत का कुछ स्वाद पाते ही वे समझ जाते थे कि ईश्वरप्रेम के जो आँसू उमड़ते हैं, वही 'मागुर मछली का झोल' है। और भगवत्-प्रेम के कारण धूलि में लोटपोट हो जाना ही युवती स्त्री का अंक है। (वचनामृत, खण्ड १, पृ. १५०)

❖ (क्रमशः) ❖

जीना सीखो (१५)

स्वामी जगदात्मानन्द

अंहकार के असंख्य रूप

मानव-जीवन की अधिकांश समस्याएँ आपसी सद्भाव या समायोजन की होती हैं । ये संघर्ष या तनावपूर्ण सम्बन्धों से उत्पन्न होती हैं, जिन्हें सुधारना असम्भव माना जाता है । एक सिद्धान्त के द्वारा इनका हल हो सकता है । हमें इस मूलभूत सिद्धान्त को स्वीकार करना सीखना होगा । जब हम इसे नहीं कर पाते, तो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं । यदि हम इस सिद्धान्त को समझ लें, तो सारी समस्याएँ अपने आप ही हल हो जाती है । इसकी विस्तृत व्याख्या आगे 'मानव की दिव्यता के सिद्धान्त' (देखिये अगला अंक) में दी जायेगी ।

पशुओं के बीच सबसे महत्वपूर्ण संघर्ष भोजन के लिए होता है । मनुष्यों में पेट भरने के बाद भी संघर्ष चलता रहता है । यह संघर्ष उसके अहंकार की सुरक्षा या बचाव के लिए होता है । मानव-सम्बन्धों के बीच उठनेवाली समस्याओं में अहंकारो के बीच टकराव से उत्पन्न होनेवाली समस्याएँ सबसे प्रमुख होती हैं । कैसे अपनी 'पहचान' से अहंकार के असंख्य रूप उत्पन्न होते हैं, यह निम्नलिखित व्याख्या से समझा जा सकता है । अहंकार किस प्रकार अभिव्यक्त होता है, इसे अपने आसपास के लोगों के जीवन में भी देखा जा सकता हैं ।

(क) जब 'अहंकार' शरीर या उसके लक्षणों से जुड़ता है : मैं स्वस्थ हूँ; मै दुबला हूँ; मैं भूखा हूँ; मैं प्यासा हूँ; मैं लँगड़ा हूँ; मे अन्धा हूँ; मैं युवा हूँ; मैं वृद्ध हूँ; मैं हिन्दू हूँ; मैं ईसाई हूँ; मै मुसलमान हूँ; मैं गोरा हूँ ।

(ख) जब 'अहंकार' मानसिक विशेषताओं से जुड़ता है · मैं क्रोधित हूँ; मै सरल हूँ; मैं सुखी हूँ; मैं भाग्यशाली हूँ; मैं दुखी हूँ; मै लज्जाशील हूँ ।

(ग) जब 'अहंकार' मानसिक तथा बौद्धिक शक्ति, कौशल तथा योग्यता से जुड़ता है मैं वैज्ञानिक हूँ; मैं लेखक हूँ; मैं बुद्धिजीवी हूं, मैं कलाकार हूँ; मैं नर्तक हूँ; मैं प्रतिभाशाली हूँ; मै सत्य का शोधक हूँ ।

(घ) जब 'अहंकार' स्वाभाविक कर्तव्य, क्रियाशीलता आदि से जुड़ा हो मैं पिता हूँ; मैं माता हूँ; मैं पत्नी हूँ; मैं शिक्षक हूँ, मे अधिकारी हूँ; मैं साधु हूँ ।

(ड) जब 'अहंकार' धन या पद से जुड़ता है मैं निर्धन हूँ, मे पिछड़ा हूँ; मै भिखारी हूँ; मैं मालिक हूँ; मैं धनी हूँ ।

(च) जब 'अहंकार' जातियो तथा सम्प्रदायों से जुड़ता है मै एक किसान हूँ; मै शैव हूँ; मैं ब्राह्मण हूँ; मैं स्मार्त हूँ; मैं मध्व हूँ; मे वैष्णव हूँ; मैं हरिजन हूँ; मैं अनुसूचित जाति का हूँ; मै शाकाहारी हूँ; मे बुद्धिवादी हूँ; मैं शान्तिवादी हूँ ।

(छ) यदि 'अहंकार' मन तथा आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रतिक्रिया करे जब मैं जाग्रत हूँ; जब मैं स्वप्न में कुछ विलक्षण देखूँ; जब मैं गहरी निद्रा में हूँ; जब मैं इंग्लैंड में जन्मा था; जब मैं ५००० वर्ष पूर्व मध्य-पश्चिम में जन्मा था; जब मैं नर-शरीर में था; जब मैं मादा के रूप में जन्मा था ।

(ज) जब अहंकार आध्यात्मिक भाव से जुड़े मैं भगवद्भक्त हूँ; मैं प्रभु का सेवक हूँ; मैं ईश्वर का अंग हूँ; मैं आत्मा हूँ ।

अहंभाव के पीछे निहित एकता

हम देखते हैं कि उपरोक्त सभी कथनों में 'मैं' सामान्य है । यह अपनी सभी भूमिकाओं तथा अनुभवों का साक्षी है तथा मूलत: अपरिवर्तनशील है । अन्य सभी भूमिकाएँ तथा अनुभव प्रकट होती हैं, बदलती हैं और क्षय तथा नाश को प्राप्त होती हैं । सदा परिवर्तित तथा नष्ट होते दिख रहे भौतिक अनुभवों को यह नित्य 'मैं' प्रकाश देता है । रमण महर्षि कहते हैं, "यह शरीर 'मैं' नहीं कहता । कोई नहीं कहता कि निद्राकाल में 'मैं' नहीं था । जब 'मैं' जागता है, तो सब वस्तुएँ जागती हैं । एकाग्र मन से सोचो कि इस 'मैं' का उदय कहाँ से होता है ।" इस 'मैं' के पीछे मूलभूत सत्य क्या है? 'यह सर्वदा रहता है' के स्थान पर क्या यह कहना ठीक नहीं होगा कि 'यह अस्तित्व-स्वरूप है'? गहराई से सोचने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है । जब मैं कहता हूँ कि मैं हूँ या मेरा अस्तित्व है, तो यद्यपि इसका अर्थ छिपा हुआ है, तथापि यह स्पष्ट है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मैं अपने अस्तित्व के बारे में सजग हूँ । आज के व्यस्ततापूर्ण जगत् में हमारी भाषा की प्रयोग-पद्धति के कारण साधारण मन में अस्तित्व तथा चेतना अलग अलग प्रतीत हो सकते हैं । पर विवेकपूर्ण मन के लिए इनमें कोई भेद नही है । अस्तित्व तथा चेतना पृथक् नहीं हैं । जब सारे बन्धन हटा लिए जाते हैं, तो 'मैं' का अस्ति-भाति-प्रिय रूपी सच्चा स्वरूप रह जाता है । वही सबकी पृष्ठभूमि तथा वास्तविकता है । समस्त अभिव्यक्तियों के आधार उस शुद्ध चैतन्य से ही अनुभवसिद्ध 'मैं' को अपना अस्तित्व तथा सक्रियता मिलती है । शुद्ध हृदयवालों को इस अतीन्द्रिय तत्त्व की अनुभूति होती है । यौक्तिक शोध के द्वारा बौद्धिक अन्तर्दृष्टि के माध्यम से हमें इस सत्य की एक झलक मिल सकती है ।

प्रत्येक मनुष्य को तीन महत्वपूर्ण मूलभूत प्रेरणाओं का बोध होता है, जो उसके पूर्ण स्वरूप की द्योतक हैं । ये तीन प्रेरणा तीन रूपों में अभिव्यक्त होती हैं – (१) मुझे इस जगत् में रहना है, मैं नष्ट न होऊँ; (२) मुझे वस्तुओं का ज्ञान हो, मैं अज्ञानी न रहूँ और (३) मैं सुखी रहूँ, दुखी नही । संसार के

प्रत्येक स्वस्थ मन के व्यक्ति में ये तीन सहज प्रेरणाएँ होती हैं।

क्या मनुष्य की इन तीन कामनाओं का कोई अन्त भी है? हम दीर्घायु और यदि हो सका तो चिरजीवी होना चाहते हैं। पर हम जानते हैं कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। एक-न-एक दिन तो हमें संसार से जाना ही होगा। तथापि हम मृत्यु को पूर्ण नाश नहीं मानते। जब कोई मरता है, तो हम निश्चित रूप से जानते हैं कि उसने केवल भौतिक शरीर त्यागा है। हमारा विश्वास है कि वह कहीं अदृश्य जगत् में निवास करता है। हमारी अन्तरात्मा अमर है। वही परम तत्त्व हमारी सत्ता में व्याप्त है और हमारे लिए यह सोचना या कल्पना कर पाना कठिन है कि कभी हमारे अस्तित्व का लोप भी हो सकता है।

ज्ञान की हमारी इच्छा कितनी प्रबल है! हम वस्तुओं का बाह्य स्वरूप तथा मूलभत गुण जानना चाहते हैं, हम उनकी उपयोगिता जानना चाहते हैं। हम लोग असंख्य वस्तुओं के बारे में सब कुछ जानना चाहते हैं। यह किस चीज से बनी है? यह किस काम के लिए है? समुद्र की गहराई में क्या है? वहाँ कैसे जीव रहते हैं? मानव मन का क्या स्वभाव है? वह कैसे कार्य करता है? इसमें क्या शक्तियाँ तथा सम्भावनाएँ हैं? मृत्यु क्या है? क्या मृत्यु के बाद जीवन है? क्या जीवन के पूर्व जीवन है? क्या ईश्वर सचमुच ही हैं? दयामय ईश्वर के राज्य में इतने दु:ख क्यों हैं? ऐसे प्रश्नों से किसका सिर नहीं चकरा जाता? जगत् के स्वरूप के बारे में कोई भी अज्ञानी नहीं रहना चाहता। हर कोई संसार तथा वस्तुओं के विषय में सत्य से अवगत होना चाहता है।

दूसरी मूलभूत प्रेरणा सुख, पूर्णता तथा सन्तुष्टि के लिए है। सही दिमागवाला कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को दुख-शोकों से परिपूर्ण नहीं देखना चाहता। हम सर्वदा सुखी रहना चाहते हैं। हम दूसरों से सुख पाना चाहते हैं। जो भी चीजें, दृश्य, विचार या विलासिता की वस्तुएँ हमें सुख देती हैं, हम उनकी चाह रखते हैं; जो भी साधन हमें सुख का आश्वास देते हैं, हम उन्हें यथाशीघ्र पा लेना चाहते हैं और जितने दीर्घकाल तक सम्भव हो, उनसे अधिकाधिक सुख भोगना चाहते हैं।

इन तीन सर्वव्यापी तथा अदम्य प्रेरणाओं का उद्गम कहाँ है? ये मनुष्य के असीम तथा अदम्य सच्चे स्वरूप से उत्पन्न होती हैं। मानव का यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्दमय आत्मा है। मनुष्य इसे जाने या न जाने, सच्चिदानन्द की शक्ति उसके रक्त की हर कोशिका में है। वह जहाँ भी जो कुछ भी करता है, उसमें ये तीन प्रेरणाएँ सदैव उपस्थित रहती हैं। मनुष्य कभी भी अपने अस्तित्व-लोप, अज्ञान या निरन्तर दु:ख की कामना नहीं कर सकता। वह जीवन, ज्ञान तथा सुख की विरोधी शक्तियों का सतत प्रतिरोध करता रहता है। जीवन का लम्बा संघर्ष पूर्ण सत्, पूर्ण चेतना और पूर्ण आनन्द के लिए ही है।

'मैं' के स्वरूप तथा गुण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है : १. परम सत्य या ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्द – 'मैं' का वास्तविक रूप २. अचेतन प्राणिक क्रियाएँ; ३. व्यक्तिगत चेतना; ४. मन तथा शरीर।

१. परम सत्य या ब्रह्म आकाशवत् सर्वव्यापी और सबका प्रकाशक है। यही सर्वव्यापी चेतनारूप सच्चिदानन्द वह परम तत्त्व है, जो शाश्वत, अक्षय तथा अमर है!

२. जन्म से लेकर मृत्यु तक जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्थाओं में प्राण की जटिल क्रियाएँ शरीर में व्यवस्थित रूप से निरन्तर चलती रहती हैं। सदमे, चिन्ताएँ या रोग भी उनमें बाधा नहीं डाल पाते। हृदय-स्पन्दन, श्वास-प्रश्वास, रक्तसंचार, शौच, पाचन आदि ऐसी अनेक स्वचालित क्रियाएँ हैं। देह की ये सारी क्रियाएँ हमारी सचेत चेष्टा के बिना स्वत: चलती हैं। हमारे देह तथा मन बिना हमारी इच्छा के ही सदा बदलते रहते हैं। इस पर विचार करके हम समझ सकते हैं कि हमारा जीवन एक सतत प्रवाहशील सरिता के समान एक रहस्यमयी शक्ति है। 'मैं' या 'अहं' का बोध इस प्रवाह की सतह पर उठनेवाले एक बुलबुले के समान है। यह चेतना जाग्रत अवस्था में स्पष्ट रूप से और स्वप्न में धुँधली-सी प्रतिभात होती है। निद्रा के समय यह अचेतन में लीन हो जाती है। (जीवन का एक तिहाई भाग इस अचेत निद्रा में ही बीत जाता है।)

परन्तु अचेतन अवस्था इस 'मैं' का मूल स्रोत नहीं है। इसका उद्गम तो वह सर्वव्यापी दिव्य चेतना है, जो अविनाशी है तथा तीनों काल में विद्यमान रहती है। अचेतन जीवन-शक्ति 'मैं' को आच्छन्न की हुई प्रतीत होने पर भी उसकी क्षति नहीं कर सकती। इस सत्य को जानकर हम भयमुक्त हो जाते हैं।

३. एक अँधेरे कमरे की कल्पना करो, जिसकी खिड़कियाँ तथा द्वार बन्द हैं। छत के एक छिद्र से प्रकाश आकर भीतर के एक भाग को दर्शाता है। ऊपर से वह एक काला छिद्र है, पर भीतर के लोग उसे कक्ष के एक भाग को आलोकित करते हुए देखते हैं। मान लो कि वह छिद्र ही स्वयं को कक्ष के प्रकाशक ज्योति का स्रोत समझने लगे। हमारा 'मैं' या अहं प्राय: ऐसा ही करता है। इस 'मैं' की सुदूर पृष्ठभूमि में सच्चिदानन्द की अनन्त शुद्ध चेतना है। यदि यह अहंकार भूल जाय कि यह अपने पीछे स्थित सच्चिदानन्द सागर पर आश्रित है; यदि उसे इस बात का बोध न हो कि अन्य 'अहं', चाहे वे कितने भी कम विकसित क्यों न हों, मूलत: उसी के समान हैं और उनके प्रति द्वेष या घृणा का भाव रखता है, तो वह 'अहं' रोगी हो जाता है। यही एक वास्तविक आध्यात्मिक आदर्श का सत्य है। डॉ. सी. जे. युंग कहते हैं, "पूर्ण से पृथक् होकर और मानवमात्र तथा अपनी आत्मा से विच्छिन्न हो जाने के कारण यह अहं रोगी हो गया है।" ❖ (क्रमशः) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (१५)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते है कि वे पूर्व के किसी देश मे जन्मे और यूनान मे निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओ पर बौद्ध जातको तथा पंचतंत्र आदि में ग्रथित भारतीय कथाओ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी है। – सं.)

विधवा और उसकी नौकरानियाँ

एक विधवा को सफाई की बड़ी सनक थी। उसके आदेश पालन करने के लिए दो छोटी नौकरानियाँ थीं। बड़े सबेरे मुर्गे की बाँग सुनते ही वह उन्हे उठाकर काम में लगा देती। चूँकि मुर्गा ही मालकिन को इतने सबेरे जगा दिया करता था, अत: सेविकाओ ने इस झंझट से तंग आकर मुर्गे को ही मार डालने का निश्चय किया। योजना सफल हो जाने पर उन दोनो ने पाया कि वे और भी बड़ी विपत्ति मे फँस गयी हैं, क्योंकि मुर्गे की आवाज बन्द हो जाने से अब उनकी मालकिन उन्हे आधी रात को ही जगाकर काम में लगा देती थी।

कहावत भी है – ताड़ से गिरे, तो खजूर में अटके।

बिल्ली और चिड़ियाँ

एक बिल्ली ने जब सुना कि किसी विशेष दड़बे की चिड़ियाँ बीमार है, तो उसने एक चिकित्सक का वेश बनाया और हाथ मे छड़ी तथा चिकित्सकीय यंत्रों का थैला लेकर उनके दड़बे के समक्ष जा पहुँची। आगे बढ़कर उसने दरवाजा खटखटाया। किवाड़ खुलने पर उसने पूछा कि उन लोगों की तबीयत अब कैसी है और यदि आवश्यकता हो, तो वह उनका इलाज करके उन्हें भला-चंगा करने को तैयार है। चिड़ियो ने उत्तर दिया, "हम सब स्वस्थ हैं और रहेंगी, बशर्ते तुम दया करके हम जैसी हैं, वैसी ही छोड़कर चली जाओ।"

मेमना और भेड़िया

एक भेड़िया एक मकान के पास से होकर गुजर रहा था। उसकी सुरक्षित छत पर खड़े मेमने ने उसे देखा और उसकी खिल्ली उड़ाने लगा। भेड़िये ने ऊपर की ओर निगाह उठाकर देखा और बोला, "बेटा, मै तुम्हारी आवाज सुन रहा हूँ, परन्तु यह तुम नही, बल्कि जिस छत पर तुम खड़े हो, वह छत ही मेरी खिल्ली उड़ा रही है।

बैल और मेढक

एक बैल एक तालाब मे पानी पीने गया था। मेढकों के कुछ बच्चे उसके पाँव के नीचे आ गये और उनमें से एक मर भी गया। उनकी माँ जब घर लौटी, तो उसने एक बच्चे को न देखकर उसके भाइयो से उसका समाचार पूछा। बच्चों ने बताया, "मम्मी, वह मर गया; अभी अभी चार पैरोवाला एक बहुत बड़ा जानवर तालाब मे आया था और उसने अपने खुरो से उसे कुचल डाला। मेढकी ने अपने शरीर को फुलाते हुए पूछा, "क्या वह जानवर इतना बड़ा था?" बच्चे बोले, "माँ, अपने को फुलाना बन्द करो और नाराज मत होना, क्योंकि उस राक्षस के आकार को सफलतापूर्वक दिखाने के पहले ही तुम फट जाओगी।" कल्पना की भी एक सीमा है।

गड़ेरिया और भेड़िया

एक बार एक गड़ेरिये को जंगल में कहीं एक भेड़िये का बच्चा मिल गया। उसने उसे पाल लिया और कुछ समय बाद उसके थोड़े बड़े हो जाने के बाद उसे आसपास के झुण्डों में से मेमने चुरा लाना सिखा दिया। भेड़िया शीघ्र ही इस कला में माहिर हो गया। एक दिन उसने गड़ेरिये से कहा, "चूँकि तुमने मुझे चोरी करना सिखा दिया है, अत: तुम्हें भी मुझसे सावधान रहना होगा, क्योकि हो सकता है कि तुम भी अपने झुण्ड की कुछ भेड़ो को खो बैठो।

पिता और उसकी दो पुत्रियाँ

एक व्यक्ति के दो पुत्रियाँ थीं। उनमें से एक का विवाह एक माली से हुआ था और दूसरी का एक कुम्हार के साथ। एक बार वह अपनी मालिन पुत्री से मिलने गया। वहाँ पहुँचकर उसने पुत्री से उसका हाल-चाल पूछा। उसने कहा, "मेरा बाकी सब तो ठीक है; पर मेरी एक ही इच्छा है कि खूब वर्षा हो, ताकि मेरे पौधो को अच्छा पानी मिल जाय।" इसके दो-चार दिनो बाद वह अपनी कुम्हारिन पुत्री के घर गया और उसी प्रकार उसकी खोज-खबर ली। पुत्री ने उत्तर दिया, "मुझे किसी भी चीज की कमी नही है, परन्तु मेरी एक ही इच्छा है कि मौसम ऐसा ही सूखा बना रहे और जोरो की धूप निकलती रहे, ताकि मेरे बरतन ठीक से सूख जायें।" वह बोला, "तुम्हारी बहन वर्षा चाहती है और तुम सूखा मौसम चाहती हो; अब बताओ भला मै किसकी इच्छा का साथ दूँ।"

केकड़ा और उसकी माँ

एक केकड़े ने अपने पुत्र से कहा, "बेटा, तुम क्यों एक ही तरफ से चलते हो? सीधे सीधे चलना ही ज्यादा अच्छा है।" बच्चे ने उत्तर दिया, "ठीक है माँ, यदि तुम मुझे सीधा रास्ता दिखा दो, तो उस पर चलने का वचन देता हूँ।" माँ ने बहुत प्रयास किया, परन्तु अपना सारा परिश्रम बेकार जाने के बाद उसने चुपचाप अपने बेटे की बात मान ली।

उपदेश देने की अपेक्षा करके दिखाना अधिक प्रभावी है।

बछड़ा और बैल

एक खेत में दो बैल हल मे जुतकर कष्ट उठा रहे थे। वहाँ घूमते हुए एक बकरे ने उन श्रमरत बैलो को देखा और निकट

जाकर उनके दुखी जीवन की खिल्ली उड़ाने लगा । थोड़े दिनों बाद ही फसल की कटाई हो जाने के बाद किसान ने बैलों को खोलकर स्वाधीन भाव से चरने के लिए छोड़ दिया, पर नये फसल की खुशी के अवसर पर बलिदान देकर उत्सव मनाने के लिए वह बकरे को बाँधकर ले चला । बैलों ने यह सब देखकर मुस्कुराते हुए बकरे से कहा, "बलिदान के इसी दिन के लिए तुम्हें खिला-पिलाकर छुट्टा छोड़ दिया गया था ।"

वृद्ध आदमी और यमराज

एक बूढ़ा आदमी प्रतिदिन जंगल में लकड़ियाँ काटा करता था । काटने के बाद वह उन्हें बाँधकर बेचने के लिए शहर में ले जाता । एक दिन अपनी इस लम्बी यात्रा से थककर उसने अपने बोझ को एक किनारे रखा और एक वृक्ष के नीचे बैठ गया । वह अपनी दुखद आजीविका पर खेद व्यक्त करते हुए कहने लगा, "यम भी आकर क्यों नहीं मुझे उठा ले जाता ।" उसके मुख से यह वाक्य निकलते ही वहाँ मृत्यु के देवता यमराज प्रकट हो गये । उन्होंने वृद्ध से पूछा, "तुमने मुझे किसलिए याद किया है?" अपने सामने साक्षात् मृत्यु को खड़ा देखकर वृद्ध घबड़ा गया । किसी प्रकार हकलाते हुए वह बोला, "कोई खास बात नहीं है, बस यूँ ही, यह लकड़ी का गट्ठा उठवाकर जरा मेरे सिर पर चढ़ा दीजिए ।"

बिना समझे-बूझे ही लोग बड़ी बड़ी बातें कहा करते हैं ।

देवदारु और झड़बेरी

देवदारु का एक वृक्ष एक झड़बेरी के सामने डींग हाँकते हुए बोला, "देखो, तुम किसी काम के नहीं हो, जबकि मैं हर जगह मकान तथा छत बनाने के काम आता हूँ ।" झड़बेरी ने उत्तर दिया, "अरे भाई, यदि तुमने अपने को काटनेवाले कुल्हाड़ियों और आरों को ध्यान से देखा होता, तो तुम झड़बेरी के रूप में पैदा होना ही ज्यादा पसन्द करते ।

सबकी अपनी अपनी उपयोगिता है ।

चूहा, मेढक और चील

एक चूहा हमेशा धरती पर रहा करता था । दुर्भाग्यवश उसकी एक मेढक के साथ अन्तरंग मित्रता हो गयी, जो अपना अधिकांश समय पानी में ही बिताया करता था । मेढक ने एक दिन हँसी करने की इच्छा से चूहे के साथ अपना पाँव बाँध लिया । इस प्रकार दोनों के पाँव एक साथ जुड़ जाने पर मेढक पहले तो अपने मित्र के साथ मैदान में गया, जहाँ वे प्राय: ही भोजन की तलाश में जाया करते थे । भोजन हो जाने के बाद मेढक उसे अपने तालाब की ओर ले चला । तालाब के किनारे पहुँचते ही वह सहसा चूहे को अपने साथ घसीटते हुए तालाब में कूद पड़ा । मेढक जोर जोर से टर्राते हुए मजे के साथ तैरने लगा, मानो उसने कोई बड़ा ही अद्भुत मजाक किया हो । परन्तु पानी के भीतर बेचारे चूहे का दम घुट गया और उसके प्राण निकल गये । मरा हुआ चूहा पानी की सतह पर उतराने लगा, परन्तु उसके पाँव के साथ मेढक का पाँव भी बँधा हुआ था । मेढक अपना पाँव खोल नहीं सका । एक चील ने चूहे को देखा और अपने पंजों से उठाकर आकाश में ले गयी । चूहे के साथ बँधा हुआ मेढक भी चील का शिकार हो गया ।

हँसी-खेल में भी दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए ।

पक्षी, साँप और न्यायालय

मनुष्यों के बीच रहने की अभ्यस्त एक चिड़िया ने दूर देश से आकर एक न्यायालय की दीवार में अपना घोंसला बनाया । घोंसले में उसने सात अण्डे दिये । सातों बच्चे बड़े होने लगे । उसी दीवार के एक बिल में एक साँप भी रहता था । एक दिन उधर से गुजरते हुए साँप ने उस घोंसले को देखा और उन सातों बच्चों को चट कर गया । चिड़िया जब लौटकर आयी तो उसने अपना घोंसला खाली देखा । वह विलाप करते हुए कहने लगी, "हाय! मैं यहाँ अजनबी हूँ । शायद इसी कारण जहाँ सभी लोगों के साथ न्याय किया जाता है, मुझे अन्याय का शिकार होना पड़ रहा है ।"

चोर और उसकी माता

एक लड़के ने अपने सहपाठी की पुस्तक चुरा ली और उसे ले जाकर अपनी माँ को दे दिया । माँ ने उसे सजा देना तो दूर, उसे इस कार्य में उत्साहित ही किया । कुछ दिनों बाद वह किसी का कोट चुरा लाया और माँ ने इस पर उसे शाबाशी ही दी । वह लड़का जब जवान हुआ, तो और भी कीमती चीजें चुराने लगा । आखिरकार एक बार वह चोरी करते हुए रंगे-हाथों पकड़ा गया । प्राणदण्ड की सजा सुनाने के बाद उसके दोनों हाथों को पीछे बाँधकर उसे फाँसी देने के सार्वजनिक स्थान की ओर ले जाया जाने लगा । उसकी माँ भी शोक में छाती पीटती और विलाप करती हुई भीड़ के साथ साथ चल रही थी । फाँसी के स्थान पर पहुँचकर चोर ने कहा, "जीवन की अन्तिम इच्छा के रूप में मैं अपनी माँ से एक बात कहना चाहता हूँ ।" जल्लाद की स्वीकृति के बाद जब उसकी माँ ने अपना कान उसके मुख के पास किया, तो तत्काल अपने दाँतों से माँ का कान पकड़कर उसे काट लिया । इस पर माँ जब उसे बुरा-भला कहने लगी, तो वह बोला, "जब मैं पहली बार अपने सहपाठी की किताब चुराकर लाया था, तभी यदि तुमने मुझे पीटा होता, तो मुझे यह दिन नहीं देखना पड़ता और न ही मेरी ऐसी अपमानजनक मौत ही होती।"

दोष को बढ़ावा देना ही सबसे बड़ा दोष है ।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (३)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(पिछले अंक में आपने देखा कि स्वामीजी किस प्रकार गुजरात से विदा लेकर अप्रैल १८९२ के अन्त में मुम्बई-पूना मार्ग से महाबलेश्वर पहुँचे । वहाँ पर वे लिमड़ी के ठाकोर साहब यशवन्तसिह जी के अतिथि होकर एक माह से भी अधिक काल रहे । ठाकोर साहब उनके साथ हुई चर्चा के निष्कर्षों को अपनी दैनन्दिनी मे लिपिबद्ध कर लेते थे । प्रस्तुत है उसी डायरी के बाकी अंशों का गुजराती से हिन्दी अनुवाद ।)

दिनांक १२-५-९२ को ठाकोर साहब ने अपनी 'नोंदपोथी' में जो लिखा है, वह इस प्रकार है – "कल हुई चर्चा से यह भी सिद्ध हो गया है कि पूर्वकाल में गुणकर्म के अनुसार वर्ण-व्यवस्था प्रचलित थी । आज ब्राह्मण के यहाँ जन्मा व्यक्ति ब्राह्मण और क्षत्रिय के यहाँ उत्पन्न व्यक्ति क्षत्रिय माना जाता है। अब गुण-कर्म की ओर ध्यान नहीं दिया जाता, अत: उत्तम विषयों की ओर इच्छा तथा यत्न न रह पाने के कारण आर्यगण सभी प्रकार से अधमावस्था को प्राप्त हुए है और होते जा रहे हैं । ब्राह्मण के यहाँ जन्मा व्यक्ति निरक्षर होकर दासत्व करता हुआ भी ब्राह्मण माना जाता है और वैश्य या शूद्र के यहाँ जन्मा व्यक्ति महासमर्थ एवं विद्वान होकर अपनी आत्मोन्नति के प्रयास के साथ साथ लोगों को उपदेश देकर कल्याण का मार्ग बताने के बावजूद वह वैश्य या शूद्र ही माना जाता है । यह किसी भी प्रकार से उचित नही है । पूर्वकाल की ओर दृष्टिपात करें तो गुण-कर्म के अनुसार जाति-निर्धारण के कई उदाहरण मिल सकते हैं । मत्स्यगन्धा जो एक मछुवारिन थी, उसकी कोख से जन्मे श्री वेदव्यास अपने शुभ गुण-कर्म तथा विद्वत्ता के कारण अति उत्तम महर्षि ब्राह्मण के रूप में गण्य हुए । श्री वाल्मीकि भील जाति में उत्पन्न होकर भी विद्या एवं सत्कर्मो के कारण पूज्यपुरुष ब्राह्मण माने गये । विश्वामित्र क्षत्रियपुत्र होकर भी विद्वत्ता एवं योगबल के कारण महाप्रतापी राजर्षि ब्राह्मण कहलाए । पूर्वकाल में ब्राह्मण के शूद्र तथा क्षत्रिय के वैश्य – इस प्रकार चाहे किसी वर्ण में जन्म लेने पर भी गुण-कर्म के अनुसार वर्ण अर्थात् जाति में परिवर्तन किया जा सकता था । इस सम्बन्ध में मनुस्मृति में भी इसी तरह की बात कही गई है –

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।।[1]

१३-५-९२ – "कारण के बिना कार्य होना कदापि सम्भव नहीं । कारण को जाने बिना कार्य का ज्ञान होना भी सम्भव नही । प्रकृति (माया) ब्रह्माण्ड का कार्य है और पुरुष (ईश्वर) ब्रह्माण्ड का कारण है । प्रकृतिरूप कार्य इन्द्रियगम्य तथा पुरुषरूप कारण इन्द्रियातीत होने से प्रकृति (माया) की धारणा सहज ही हो जाती है और पुरुष की धारणा के लिये तत्त्वज्ञान को प्राप्त करने की आवश्यकता है । जिस प्रकार पीलिया के रोगी को जगत् के सभी पदार्थ पीले होने की भ्रान्ति उत्पन्न होती है, उसीप्रकार प्रकृति रूप महामाया के आवरण की वजह से मनुष्य भ्रान्ति में पड़कर पुरुषरूप परमात्मा का वास्तविक स्वरूप भूल जाता है । प्रकृति तथा प्रकृति-मिश्रित चैतन्य ब्रह्मांण्ड में समस्त कार्यो का सम्पादन करते हैं । प्रकृति अनादि है, परन्तु वह चैतन्य के आश्रय बिना कुछ भी नहीं कर सकती । उसके परमाणुओं को गति प्रदान करनेवाला, जोड़नेवाला या चलानेवाला शुद्धचैतन्य होकर वह भी अनादि है । जो अनादि, अनन्त सच्चिदानन्द, शुद्ध चैतन्य है, वही परमात्मा है । अनीश्वरवादी (नास्तिक) कहते हैं कि एकमात्र प्रकृति ही अनादि है, ब्रह्माण्ड का सारा व्यापार प्रकृति पर ही आश्रित है, पुरुष (ईश्वर) तो है ही नहीं, प्रकृति के महाभूत आदि तत्त्वों का आकस्मिक संयोग होने से ही ब्रह्माण्ड तथा उसके सारे व्यापारों की उत्पत्ति हुई है । परन्तु उनका ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि स्वाभाविक रूप से ही आकस्मिक संयोगवश शुभ हेतु तथा नियम नहीं बन सकता और न उनका पालन ही हो सकता है । ब्रह्माण्ड की रचना में परमात्मा का कैसा उत्तम हेतु दीख पड़ता है? पहले तो महाकाश के बिना ब्रह्माण्ड की अगणित रचनाओं का समावेश नहीं हो सकता । अत: परमात्मा ने सर्वप्रथम उसी की योजना की, तत्पश्चात् प्राणीमात्र के आधारभूत ऐश्वर्य – तेज (पुरुष) तथा माया (प्रकृति) को अपने भीतर से उत्पन्न किया । इसके बाद उन्होंने प्राणीमात्र के जीवनरूप वायु, फिर जड़ चैतन्य आदि की वृद्धि तथा पोषण हेतु अग्नि और अग्नि के उपरान्त जल उत्पन्न किया । इन सबके पश्चात् उन्होंने प्राणीमात्र को धारण करनेवाली पृथ्वी और अन्त में प्राणियो को बनाया । सर्वप्रथम प्राणिमात्र के लिए उपयोगी कार्य करने का उत्तम हेतु क्या अपूर्व कर्तृत्व के बिना हो सकता है? सूर्य-चन्द्रमा के उदयास्त में, प्राणिमात्र की उत्पत्ति में, ऋतुओं के परिवर्तन आदि में जो अद्भुत नियम दीख पड़ता है, वह क्या अपूर्व कर्तृत्व के बिना हो सकता है? प्राणीमात्र अन्न, फल आदि का आहार करते है, उन्हीं के शरीर में इस आहार से रासायनिक क्रिया के द्वारा वीर्य बनता है और नर-मादा के संयोग से शरीर का निर्माण होता है? प्राणिमात्र के आहार तथा सन्तानोत्पत्ति की एक समान प्रणाली होते हुए भी कभी मनुष्य से पशु या पशु से पक्षी जन्म होते कभी क्यों नही पाया गया? इससे परमात्मा की असाधारण कुशलता और अचल नियमों का बोध होता है । गर्भाशय मे कोई दो प्रकार के साँचे तो नही होते और आश्चर्य की बात है कि उसी रीति से

१. शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है और ब्राह्मण भी शूद्रत्व को प्राप्त करता है । इसी प्रकार क्षत्रिय तथा वैश्य कुल मे जन्म लेनेवालो के विषय मे भी समझना चाहिए । (मनुस्मृति १०/६५)

मनुष्य को कभी पुत्र तो कभी पुत्री, वैसे ही पशु-पक्षियों में कभी नर तो कभी मादा का जन्म होता है। यह परमात्मा के अगम्य चातुर्य का प्रमाण है। जो पशु-पक्षियों में साधारण ज्ञान और मनुष्यों में विशेष ज्ञान देखने में आता है, वह परमात्मा का अलौकिक संकेत है; ऐसा संकेत प्रकृति-द्रव्य में परमाणुओं के स्वाभाविक रूप से होने वाले आकस्मिक संयोग से बनी हुई कृति में सम्भव नहीं है। ... जब शुद्ध चैतन्यरूप परमात्मा से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है, तो उस परमात्मा में इच्छा है और उस इच्छा को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए आवश्यक मननशक्ति भी है मननशक्ति के योग से उसमें यथावश्यक कल्पना, ज्ञान तथा परिणाम भी है। शुद्ध चैतन्यरूप परमात्मा का कोई माप न होने से वे अपनी स्थिति परिवर्तन मात्र के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर सकते हैं। जैसा कार्य करने की इच्छा हो, तदनुरूप अपनी स्थिति में परिवर्तन करने के कारण परमात्मा में उचित निर्णय करने की भी क्षमता है। भिन्न भिन्न प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए होता रहने वाला स्थित्यन्तर भी उनका नियम है। प्रत्येक कार्य को भिन्न भिन्न प्रकार से दोषरहित तथा अति-उपयोगी करने की योजना भी परमात्मा द्वारा ही बनाई हुई है। इस प्रकार उनमें सूझबूझ तथा शुभ हेतु भी है। स्थिति में परिवर्तन के लिए पहले क्या किया था और अब क्या करना है, परमात्मा को इसका ज्ञान होने के कारण उनमें स्मृतिज्ञान भी है। ऐसा होने से शुद्ध चैतन्यरूप परमात्मा सर्वगुणसम्पन्न अपूर्व कर्तृत्वशक्तियुक्त हैं, यह सिद्ध हो जाता है और साथ ही यह भी कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में दिखनेवाले प्रकृति-द्रव्य के समस्त व्यवहार उन्हीं की सत्ता से उत्पन्न हुए है तथा चल रहे हैं।"

१७-५-९२ – "**अहिंसा परमो धर्मः** – अहिंसा परम धर्म है, परन्तु केवल पशु-पक्षी आदि जीवों का वध न करना मात्र ही अहिंसा का तात्पर्य नहीं है। अहिंसा का स्पष्टार्थ श्री वेदव्यास ने इस प्रकार किया है – **सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानां अनभिद्रोहः अहिंसा ज्ञेया**। इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तुओं में विशेष ज्ञान न होने के कारण उनसे द्रोह करने का प्रश्न ही नहीं उठता। द्रोह का अर्थ है शत्रुता एवं दुर्भाव। इस प्रकार जागतिक एवं धार्मिक कार्यों में किसी भी मनुष्य के प्रति वैर-द्वेष या दुर्भाव नहीं रखना चाहिए – इसी को अहिंसा कहा गया है। महर्षि मनु ने मानव धर्म के दस लक्षण बताये हैं, जो मानवमात्र के लिए समझने तथा मनन करने योग्य हैं –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ६/९२

जागतिक तथा धार्मिक कार्यों में सिद्धि पाने के लिए दृढ़ आग्रहपूर्वक **धृति** या धैर्य बनाये रखने की आवश्यकता है। अन्याय तथा द्रोह करनेवाले लोग शरण में आयें तो उन्हें **क्षमा** करना भी इसलिये धर्म का लक्षण माना जाता है कि इससे अपराधी मनुष्य के पश्चात्ताप करने से उनकी उन्नति होती है और वह क्षमा करनेवाले का मित्र बना रहता है। कष्ट सहन करके प्रापंचिक अथवा धार्मिक कार्य की सिद्धि के लिए **दम** की कोई कम आवश्यकता नही है। इससे शरीर दृढ़ होता है धन आदि कोई वस्तु अन्याय के द्वारा प्राप्त नहीं करना **अस्तेय** या त्याग – यह भी धर्म का लक्षण है। शारीरिक तथा मानसिक ये दो प्रकार के **शौच** है। मल-मूत्र आदि का रोध न करते हुए नियमित रूप से उनका त्याग करना और स्नान आदि के द्वारा शरीर को स्वच्छ रखना, इसका नाम शारीरिक या बाह्यशुद्धि है और मन में बुरे विचार एवं झूठी कल्पना उत्पन्न न होने देकर उसे शुद्ध, स्थिर तथा निर्मल रखना, इसे मानसिक या अन्तःशुद्धि कहते हैं। धर्म का छठवाँ लक्षण **इन्द्रिय-निग्रह** है। इन्द्रिय-निग्रह का अर्थ है पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और मन, बुद्धि तथा अहंकार – इन तीनों का निग्रह करना। **धी** अर्थात् बुद्धि का सदुपयोग करना यह भी धर्म का लक्षण है। बुद्धि की सहायता से मनुष्य महान् सत्ताधीश बन सकता है और बुद्धि की सहायता से मनुष्य परब्रह्म में लीन होकर परम तत्त्व को पाता है। मनुष्य मात्र की जागतिक तथा धार्मिक उन्नति कर सकनेवाली सत्य **विद्या** सद्ग्रन्थों में दीख पड़ती है। ये सद्ग्रन्थ हैं – चार वेद, चार उपवेद तथा छह शास्त्र। चारों वेद ज्ञान, कर्म तथा उपासना के बारे में गुह्य उपयुक्त विषयों पर लिखे गये हैं। वेदों के ज्ञान को और भी प्रस्फुटित करने के लिये उपनिषद् तथा आरण्यक आदि ग्रन्थों की रचना हुई है। इसके अतिरिक्त वेदविद्या का और भी स्पष्ट ज्ञान कराने के लिए आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा अर्थशास्त्र – ये चार उपवेद लिखे गये हैं। फिर छह शास्त्रों में ब्रह्मविद्या तथा ज्ञानवृद्धि के साधनों के विषय में प्रकाश डाला गया है। इन समस्त सद्विद्याओं की उपलब्धि करना अतीव हितकर होने के कारण विद्या को धर्म का आठवाँ लक्षण माना गया है। धर्म का नवम लक्षण **सत्य** है। बुद्धि एवं विद्या के योग से जो आचरण उचित लगे उसे करने का नाम सत्य है। कहा गया है कि **सत्यान्नास्ति परो धर्मः** अर्थात् सत्य से बढ़कर दूसरा कोई भी धर्म नहीं है। **क्रोध को त्यागना** धर्म का दसवाँ लक्षण है। क्रोध से अनेक प्रकार के द्रोह अर्थात् पापाचरण होते हैं, अतः क्रोध का त्याग किये बिना जागतिक तथा धार्मिक उन्नति नहीं हो सकती।"

१८-५-९२ – "अधर्म के लक्षणों के विषय में ठीक विवेचन हुआ। धर्म के दस लक्षणों के विपरीत जो आचरण है, वह अधर्म है। अधर्म तीन प्रकार के होते हैं – कायिक, वाचिक तथा मानसिक। महर्षि मनु के **परद्रव्येषु अभिध्यानं मनसा अनिष्टचिन्तनम्** (१२/५) आदि मूल्यवान विचार मनुष्यमात्र को अपने कल्याण हेतु ध्यान में रखना चाहिए।

२३-५-९२ – "तम, रज तथा सत्त्व – इन तीन गुणों के प्रभाव से मनुष्यों के भिन्न भिन्न स्वभाव बनते हैं। कोई विशेष ज्ञान के उपयोग से केवल उदरपूर्ति हेतु उपार्जन में ही सन्तोष मानने लगा। कोई उत्साहपूर्वक संसार के उत्तम कोटि के सुख-वैभव भोगने सम्बन्धी कार्यों में लग गया। कोई उपयुक्त विद्या अर्जित कर लोकहित के लिए उसका उपयोग करने में लग गया और कोई सत् शास्त्रों का अध्ययन कर सत्यविद्या की उपलब्धि करके **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** मानकर अन्तःकरण को निर्मल तथा वृत्तिहीन बनाकर, संसार की आसक्ति को त्यागकर अचल परमसुख की प्राप्ति के लिए परमार्थ-सिद्धि करने लगा। इस प्रकार मनुष्यों की भिन्न भिन्न अवस्था होने से उन्हें पहचानने के लिए शास्त्रवेत्ताओं ने उनके चार वर्ग बना दिये – (१) पामर (२) विषयी (३) जिज्ञासु तथा (४) मुक्त। जो अल्पबुद्धि वाले हैं अर्थात् जिनमें उदरपूर्ति के हेतु मजदूरी भर करने योग्य ज्ञान है, ऐसे लोगों को **पामर** कहा जाता है। पामर लोगों को सीधे धर्म-अधर्म तथा आत्मा-परमात्मा का बोध देने का कोई मतलब नहीं। उन्हें तो सर्वप्रथम संसार के व्यावहारिक सुखों की ओर रुचि लगाना पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप उनकी बुद्धि विकसित होने लगे, तभी धीरे धीरे उन्हें सुधारा जा सकता है अर्थात् पहले साधारण बोध और तत्पश्चात् उत्तम बोध देने से ही वे एक एक सीढ़ी ऊपर चढ़ सकते हैं। फिर जो लोग सांसारिक विषय-भोगों की ही प्राप्ति में डूबे रहते हैं, जो दिन-रात दूसरों पर शासन करने या सत्ता पाने के प्रयास में लगे रहते हैं, जिनकी तृष्णा अधिकाधिक बढ़ती जाने से जिनके मन की तृप्ति नहीं हो सकती, ऐसे लोगों को **विषयी** कहा जाता है। ये पामर की अपेक्षा अधिक ज्ञानी होते हैं। ऐसे विषयी जनों को उपदेश के द्वारा पहले **जिज्ञासु** बनाया जाय तभी वे अन्ततः मुक्त हो सकते हैं। वे सीधे मुक्त नहीं हो सकते।

जिज्ञासुओं की दो श्रेणियाँ बनाई गई हैं – (१) कर्मजिज्ञासु तथा (२) धर्मजिज्ञासु। जो सर्व प्रकार की जागतिक विद्याओं में महाकुशल हो, परन्तु आत्मा-परमात्मा के सत्यज्ञान के विषय में जिसका ध्यान न हो, या फिर जो नीति-सदाचार के अनुसार आचरण करना तथा सृष्टिधर्म का यथाविधि पालन करना – इसी को धर्म मानकर परमात्मा की भक्ति-उपासना को निरर्थक समझते हो, उन्हें **कर्मजिज्ञासु** कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो केवल प्रकृति-परायण रहकर उसी मार्ग से अपना तथा अपने मानव-बन्धुओं की उन्नति करने में सचेष्ट रहते हैं, वे कर्मजिज्ञासु माने जाते हैं। जो अपने कुल में चले आये धर्म में श्रद्धा रखते हैं, परन्तु ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ करके सत्यधर्म की खोज करने में प्रवृत्त नही हो सकते, ऐसे लोगों को भी **कर्मजिज्ञासु** कहा गया है।

दूसरी ओर जो अनेक धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर सत्यधर्म का अनुसरण करते हैं, जो अपने सांसारिक कार्यों को निभाते हुए भी अपनी परमार्थ-सिद्धि में बाधा नहीं आने देने का प्रयत्न करते हैं, जो जगत् के सर्व प्रकार के सुख-दुःखों को अनित्य समझकर विवेकपूर्वक उनमें प्रवेश न करने के विषय में सावधान रहते है, जो समचित्त अवस्था को प्राप्त करने के इच्छुक है, जो अपने अन्तःकरण को विक्षेपरहित तथा शुद्ध बनाने में प्रयत्नशील हैं, जो कैवल्य मोक्ष की प्राप्ति के साधनों को समझने में निमग्न रहते हैं, जो परमात्मा के स्वरूप की प्राप्ति की सिद्धि के साधनों के सत्यमार्ग पर चलने के बारे में विचार करते हैं, वे **धर्मजिज्ञासु** कहलाते हैं।

जिन्हें ऐहिक सुख की तृष्णा नहीं होती, जो अपने शरीर तथा अपने सुख को अनित्य तथा अशाश्वत मानते हैं, जो स्थूल शरीर को नश्वर मानकर अपने वास्तविक चैतन्यात्मक सूक्ष्म शरीर को जानते हैं, हर्ष-शोक के प्रसंग भी जिनकी उदासीन वृत्ति को विचलित नहीं कर सकते, जिनका मन किसी प्रकार से विक्षिप्त नहीं होता, वे **मुक्त** कहलाते हैं। मुक्त का अर्थ है जीवनमुक्त।"

९, १० तथा ११ जून – इन तीनों दिनों की चर्चा का निष्कर्ष ठाकोर साहब ने अपनी दैनन्दिनी में इस प्रकार लिख रखा है – "**स्वामी श्री विवेकानन्द जी** के शास्त्रीय ज्ञान से मेरे मन में बड़ा ही आनन्द तथा आश्चर्य उपजा है। शास्त्रों के बारे में मेरा जो ज्ञान था, उनके साथ चर्चा करने से उसमें यथेष्ट वृद्धि हुई है। वेदों के षडंग माने जानेवाले षट्शास्त्रों के बारे में जानकारी को लिपिबद्ध करते हुए मुझे परम आनन्द हो रहा है।

(१) श्री कपिल मुनि का **सांख्य**शास्त्र, (२) श्री गौतम ऋषि का **न्याय**शास्त्र, (३) श्री कणाद मुनि का **वैशेषिक**सूत्र, (४) श्री पतंजलि ऋषि का **योग**शास्त्र, (५) श्री जैमिनाचार्य जी की **पूर्वमीमांसा** तथा (६) **ब्रह्ममीमांसा** या उत्तरमीमांसा, जिसमें बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र के विषयों का दिग्दर्शन कराया गया है – ये षट्-शास्त्र मनन करने योग्य हैं।

सांख्यशास्त्र में त्रिगुणात्मक सृष्टि की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए बताया गया है कि सत्त्व, रज तथा तम – इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही **प्रकृति** है और उत्पत्ति, स्थिति एवं लय – ये उसके तीन **कार्य** है। मूल प्रकृति दृश्यमान न होने से कार्य भी नही होता। त्रिगुणात्मक प्रकृति से **अहंकार**; अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध – **ये पाँच विषय**, तत्पश्चात् पाँच **कर्मेन्द्रिय**, पाँच **ज्ञानेन्द्रिय**, पाँच **महाभूत** और इसके बाद **पुरुष** – इस प्रकार सांख्यशास्त्र में पच्चीस पदार्थों का निरूपण किया गया है।

न्यायशास्त्र में तर्क एवं युक्ति का प्रमुख स्थान है। अतः

इसका अध्ययन करने से सत्य-सिद्धान्त के द्वारा आत्मा-परमात्मा के वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। पृथ्वी का प्रत्येक मूल परमाणु नित्य होने के कारण उसे न्यायशास्त्र में नित्य तथा स्थायी कहा गया है।

वैशेषिक सूत्र में सृष्टि की रचना और मानसिक विद्या अर्थात् अध्यात्मिक एवं आधिभौतिक विद्या का निरूपण हुआ है। शब्दज्ञान तथा उसके द्वारा चल रही जागतिक व्यवस्था का इसमें उत्तम रीति से ज्ञान कराया गया है।

योगशास्त्र के सिद्धिपाद हिस्से में चित्त का निरोध कर समाधि प्राप्त करने की बात कही गई है, क्रियापाद अंश में समाधि के साधनरूप आठ अंग बताये गये हैं। विभूतिपाद में योगिक विभूतियों के विषय में कहा गया है और फलपाद अंश में योग के फलरूप मोक्ष के विषय में बताया गया है।

पूर्वमीमांसा को कर्ममीमांसा भी कहा जाता है। इसमें वाक्यार्थ के द्वारा न्याय की श्रेणियाँ बनाई गई है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से ज्ञान में वृद्धि के लिए सत्यधर्म की खोज करने की क्षमता प्राप्त होती है। व्यावहारिक कर्म की समस्याओं को सुलझाने और युक्ति करने में भी भिन्न भिन्न अर्थ लगाकर सत्यशोधन के लिए यह पुस्तक अतीव उपयोगी है।

वेदान्त अत्यन्त अमूल्य गूढ़ शास्त्र है। यह **ब्रह्ममीमांसा** या उत्तरमीमांसा के नाम से परिचित है। इसके चार अध्याय हैं। जिस अध्याय में वेद तथा उपनिषदों के वाक्य संकलित कर ब्रह्म शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है उसे **समन्वय**; जिस अध्याय में उपनिषद्-वाक्यों की विरुद्धता का परिहार किया गया है, उसे **अविरोध**; जिस अध्याय में वैराग्य पर विचार किया गया है, उसे **साधन**; और जिस अध्याय में मुक्ति तथा मुक्तपुरुष की अवस्था के बारे में लिखा गया है, उसे **फल** – इस प्रकार चार अध्यायों को अलग अलग नाम दिये गये हैं।

मनुष्यों की जागतिक तथा धार्मिक उन्नति के लिए ये षट् शास्त्र अमूल्य साधनरूप हैं। इन शास्त्रों का निर्माण करनेवाले आत्मवेत्ताओं ने विषय का निर्णय करने के लिए अलग अलग प्रमाण स्वीकार किये हैं। सांख्यशास्त्र में **शब्द**-प्रमाण, न्यायशास्त्र में **उपमान**-प्रमाण, वैशेषिकसूत्र में **अनुमान**-प्रमाण, योगशास्त्र में **प्रत्यक्ष**-प्रमाण, पूर्वमीमांसा में **अनुपलब्धि**-प्रमाण और उत्तरमीमांसा में **अथमिति-प्रमाण** – इस प्रकार इन छह प्रमाणों का उपयोग किया गया है। षड्शास्त्रों की उपयोगिता के विषय में मुझे लेशमात्र भी शंका नहीं है।

सांख्यशास्त्र में शुद्ध चैतन्यरूप परमात्मा को ही मूल अव्यक्त प्रकृति कहकर प्रथमावस्था में दोनों को एक रूप ही माना गया है। भेद तो रूपान्तर में ही होना बताया गया है, अत: शान्त अवस्था में दोनों एकरूप ही हैं – ऐसा मानने में कोई हर्ज नहीं।

न्यायशास्त्र में तर्क एवं युक्ति प्रधान होने के कारण उसमें जो मूल परमाणु माने गये हैं, उनके द्वारा उत्पन्न हुए व्यापार रूप पदार्थों को तो अनित्य एवं नाशवान कहा गया है और उसके मूल परमाणुओं की शाश्वतता का शुद्ध चैतन्य के आश्रय बिना बोध न होने के कारण न्यायशास्त्र में भी आत्मा-परमात्मा का सत्य-सिद्धान्त अभिन्न रूप से रह सकता है।

वैशेषीकरण में आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विद्याओं का निरूपण करने में ज्ञानेन्द्रियों के चमत्कार का दिग्दर्शन कराया गया होने से, (इसमें भी) शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा की महिमा व्यक्त हुई है और इससे केवल प्रकृति का महात्म्य ही गौरव को नहीं प्राप्त होता।

योगशास्त्र में प्रत्येक सिद्धि को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने के साधनों के अभ्यास से देह-मन को शुद्ध, दृढ़, निर्मल, निर्विकारी बनाकर, परमात्मा के अचल, अखण्ड, आनन्द-स्वरूप से एकरूपता हो सके, इस विषय में श्रद्धा एवं ज्ञान उत्पन्न किया गया है।

पूर्वमीमांसा में ज्ञान की खोज एवं वृद्धि के बिना आत्मा-परमात्मा के सत्यज्ञान की प्राप्ति न होने से ज्ञान की खोज एवं वृद्धि के साधनरूप वाक्यार्थ करके दिखाये गये हैं। **ब्रह्ममीमांसा** में तत्त्वज्ञान को चरमसीमा तक पहुँचाया गया।

इस प्रकार इन छह शास्त्रों में कई प्रकार से आत्मा-परमात्मा के विषय में सत्यज्ञान देने का प्रयास किया गया है। सत्यज्ञान की प्राप्ति के जो भिन्न भिन्न मार्ग बताये गये हैं, इसे शास्त्रकारों का मतभेद मानकर किसी एक मत को लेकर दुराग्रही बनना और यह कहना कि उसके अतिरिक्त किसी अन्य मत से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसे अविद्या तथा अज्ञानता का एक प्रकार समझना चाहिए। शास्त्रकारों ने लोगों के कल्याण हेतु सत्य-असत्य का बोध कराने तथा परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को समझाने के लिए ही अलग अलग उपाय तथा मार्ग बताये हैं। और इनके द्वारा सर्वोत्तम रीति से परमार्थ-सिद्धि हो सके, यही उनके शुभ प्रयास का शुभ हेतु है।''

१३-६-९२ – ''**ब्रह्मसूत्र** छोटा-सा होकर भी वेदान्त-दर्शन का अपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को समझना बड़ा कठिन है। ब्रह्मसूत्र के लेखक आत्मज्ञान के शिखर तक पहुँचे हुए थे, अत: इस ग्रन्थ का स्पष्टार्थ लगाने के लिए, इस पर भाष्यों के रूप में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है और भिन्न भिन्न धर्माचार्य उसी को आधार बनाकर – उसकी उक्तियों का अपनी इच्छानुसार अर्थ लगाते हुए – अलग अलग मतों का प्रतिपादन करने में समर्थ हुए हैं। ये चार मुख्य धर्ममत माने गये हैं – श्री शंकराचार्य का **अद्वैत**, श्री रामानुज का **विशिष्टाद्वैत**, श्री मध्वाचार्य का **द्वैत** और श्री वल्लभाचार्य का **शुद्धाद्वैत**। फिर इन चार मतों

पर से और भी अनेक धर्ममतों का उद्भव हुआ है, परन्तु यहाँ पर मुझे इन चार मुख्य धर्ममतों पर ही विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

महत्-तत्त्वादि का कारणरूप जो शुद्ध चैतन्य है, उसी को श्री **शंकराचार्य** ने ब्रह्म कहा है । ब्रह्म ज्ञानमय, आनन्दमय तथा सत्य है । ब्रह्म के रूपान्तरण से उत्पन हुई माया का आच्छादन हो जाने से ब्रह्म के मूल स्वरूप की यथार्थ प्रतीति नही होती । श्री शंकराचार्य के मतानुसार ब्रह्म अखण्ड, नित्य एवं सत्य है और माया के कारण प्रकट हुआ ब्रह्मात्मक जगत् तथा उसके समस्त व्यवहार असत्य – अशाश्वत हैं ।

श्री **रामानुज** ने परमात्मा को सगुण, जगत् का स्वामी और मुक्तिदाता बताया है । उनके मतानुसार मनुष्य की जीवात्मा भी सगुण है और वह मुक्ति पाकर ईश्वरतुल्य हो जाती है, परन्तु जगत् की सृष्टि करने की शक्ति न होने के कारण उसमें ब्रह्म की अपेक्षा न्यूनता रहती है । सगुण ब्रह्म तथा सगुण जीव समान होने के कारण, सगुण जीव का सगुण ब्रह्म के साथ विलय नहीं होता, बल्कि अज्ञान के कारण इन दोनों के बीच भेद रहता है ।

श्री **मध्वाचार्य** कहते हैं कि जो विशेष पुरुष जगत् का कर्ता है, वही ब्रह्म है । जाव [illegible] अलग है । वह कभी ब्रह्मत्व की उपलब्धि नहीं कर सकता । मुक्त होने के बाद जीव को ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता । ईश्वर के शासन के अनुसार जीव को अपने पाप-पुण्य के आधार पर जन्म-मरण आदि क्लेश प्राप्त होते हैं ।

श्री **वल्लभाचार्य** जी का मत ऐसा है कि पुरुष और प्रकृति अर्थात् चैतन्य और जड़ – ये ब्रह्म के दो रूप हैं । रूपान्तरण के योग से ये रूप प्रकट होते हैं और इस प्रकार ब्रह्म भी भोक्ता तथा अनुभवकर्ता है । ब्रह्म के साथ विद्यमान जीव मुक्तदशा को प्राप्त करने के बाद भी सर्व भोगों का अनुभव ले सकता है । ब्रह्म के सत्य एवं नित्य होने के बावजूद रूपान्तरण के कारण आकार की प्रतीति होती है । कई जाति के पदार्थों का उत्पन्न होकर दृश्य होना अविर्भाव और उन पदार्थों का नाश होने जैसा लगना तिरोभाव माना जाता है ।

इस प्रकार भिन्न भिन्न रीति से प्रकृति व पुरुष और आत्मा-परमात्मा के विषय में सिद्धान्त बनाए गये हैं । इस सभी मतों के सिद्धान्तियों ने दो तरह के कारण माने हैं – द्वैत मतावलम्बियों ने ब्रह्म को निमित्त कारण तथा अद्वैत मतावलम्बियों ने ब्रह्म को उपादान कारण माना है । विशिष्टाद्वैत मत के श्री रामानुज का कहना है कि अविद्या के कारण ही जीव तथा ब्रह्म के अलग होने का आभास होता है । इस प्रकार उनका मत कई अंशों में अद्वैतवाद से मिलता है । मध्वाचार्य यद्यपि जीव तथा ईश्वर को स्पष्ट रूप से भिन्न बताते हैं, तथापि उनका यह भी कहना है कि ब्रह्म के विशेष पुरुष होने से कैवल्य मोक्ष में जीव का ब्रह्मविशेष पुरुष के साथ ऐक्य हो जाता है । श्री वल्लभाचार्य जी ने अविद्या, माया तथा आच्छादन पर विचार ही नहीं किया है, परन्तु उनका सिद्धान्त भी अद्वैत मत से कोई खास अलग नहीं दिखता ।

ऐसा दीख पड़ता है कि इन समर्थ विद्वान् सिद्धान्तियों ने अलग अलग रीति से ब्रह्म को पहचानने का प्रयत्न किया है । श्री शंकराचार्य ने ब्रह्म को समस्त महत् तत्त्वादिकों का मूल कारण रूप शुद्धचैतन्य कहा है । श्री रामानुज ने ब्रह्म को आत्मा-परमात्मा से कुछ अंशों में भिन्न तथा कुछ अंशों में अभिन्न बताया है और नारायण को सभी का मूल कारण कहा है । श्री मध्वाचार्य ने ब्रह्म को सृष्टि, स्थिति एवं लय के कारणरूप परम पुरुषोत्तम कहा है । और वल्लभाचार्य जी ने ब्रह्म को जड़ तथा चैतन्यात्मक वस्तु का मूलकर्ता कारण-स्वरूप बताया है ।

अद्वैत एवं द्वैत मतवादियों के बीच आपात् दृष्टि से काफी भिन्नता दीख पड़ने के बावजूद सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो कोई भिन्नता नहीं रह जाती । मध्वाचार्य जी को भी आखिरकार आत्यन्तिक प्रलय के प्रसंग में कहना पड़ा कि एक ही मूल वस्तु का अस्तित्व रह जाता है । इस प्रकार मेरे मतानुसार द्वैत और अद्वैत के बीच कोई विवाद नहीं रह जाता है ।''

ठाकोर साहेब श्री यशवंतसिंहजी की दैनन्दिनी से प्राप्त उपरोक्त सुदीर्घ अनुलिखन से हम अनुमान कर सकते हैं कि स्वामीजी उन दिनों कैसे गूढ़ दार्शनिक विषयों की चर्चा एवं मीमांसा में कालयापन करते थे । ❖ **(क्रमशः)** ❖

(आगामी अंक में हम देखेंगे कि स्वामीजी ने पूना में आकर कहाँ और कैसे निवास किया और वहाँ जिन विषयों पर उन्होंने लोगों से चर्चा की, उनकी भी किंचित् झलक देने का प्रयास करेंगे ।)
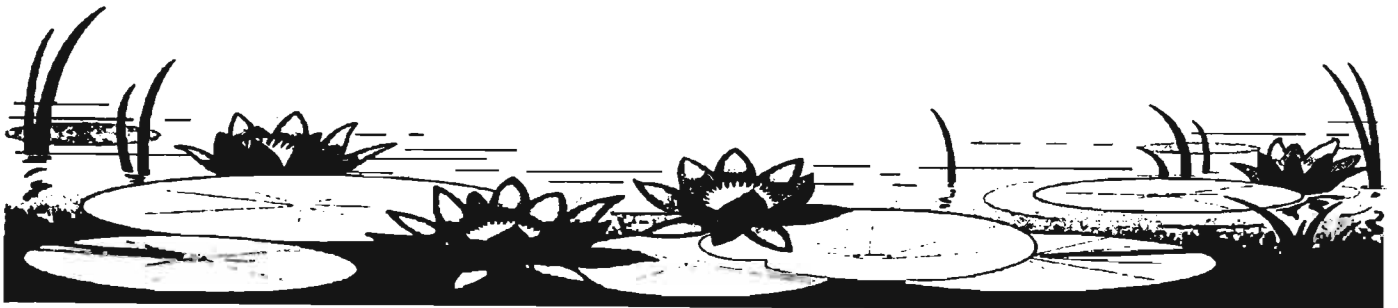
दो बोध-कथाएँ *जितेन्द्र कुमार तिवारी*

शिक्षा

राजा नन्द से अपमानित होकर चाणक्य ने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के सेनापतित्व में कुछ सैनिकों को लेकर उस पर आक्रमण कर दिया ।

राजा नन्द की प्रशिक्षित और भारी सेना के आगे चन्द्रगुप्त थोड़ी देर भी टिक न सका । वह पराजित हो गया ।

चाणक्य और उनके सैनिक जान बचाकर भागे ।

भागते-छिपते चाणक्य अपने एक गुरुभाई पण्डित के यहाँ जा पहुँचे । तब तक राजा नन्द की सेना से चाणक्य के पराजय की बात सर्वत्र फैल गयी थी ।

गुरुभाई ने चाणक्य को बाहरी कक्ष में बैठाया और हाल-चाल पूछने लगे ।

घर के भीतरी कक्ष में पण्डिताइन अपने बच्चों को भोजन परोस रही थीं ।

एक बच्चे ने गरम भात के बीच अपनी अंगुलियाँ डाल दीं और रोने लगा । इस पर पण्डिताइन उसे डाँटते हुए बोली, ''तुमने भी वही मूर्खता कर दी, जैसी चाणक्य ने की थी ।''

पण्डिताइन को नहीं मालूम था कि सामने के कक्ष में बैठे स्वयं चाणक्य भी उनकी बात को सुन रहे हैं ।

चाणक्य भीतर जाकर पण्डिताइन से मिले और अपना परिचय दिये बिना ही उनके कथन का आशय पूछने लगे । पण्डिताइन ने कहा, ''आज मेरे बच्चे ने गरम भात के बीच अंगुली डालकर अपने को आहत कर लिया । ऐसे ही चाणक्य भी राजा नन्द पर आक्रमण करके पराजित होकर आहत हुआ है । यदि मेरा बच्चा किनारे के भात को धीरे धीरे खाते हुए आगे बढ़ता, तो बीच के भात को भी आसानी से खा सकता था; वैसे ही यदि चाणक्य भी आसपास के छोटे छोटे राजाओं को जीतकर अपनी ताकत बढ़ाने के बाद राजा नन्द पर हल्ला बोलता, तो वह उसे हरा देता । पर आतुरता व जल्दबाजी के कारण मेरे बच्चे और चाणक्य दोनों को कष्ट भोगना पड़ा ।''

चाणक्य पण्डिताइन के चरणों में अपनत हो बोले, ''आज से आप मेरी गुरु हैं ।'' वे सोचने लगे कि नीतिवान होते हुए भी इतनी छोटी बात उनके दिमाग में पहले क्यों नहीं आयी?

खैर, जब जागे, तभी सबेरा – ऐसा सोचते हुए चाणक्य ने पण्डिताइन के उपदेश पर अमल किया ।

आसपास के छोटे छोटे राजाओं को जीतकर अपने साथ मिला लिया । जब उसकी सेना खूब मजबूत हो गयी, तो उसने राजा नन्द पर फिर आक्रमण किया और उसे पराजित करके अपने अपमान का बदला ले लिया ।

शिक्षा जहाँ से भी मिले ग्रहण करना हितकारी है ।

मातृदेवो भव

प्राचीन भारतीय संस्कृति में माता, पिता व आचार्य देवता के समान माने गये हैं – मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य-देवो भव । इन त्रिदेवों में माँ का स्थान सर्वोपरि है । माता ही हमारे अस्तित्व का आधार है । उसके बिना हमारे अस्तित्व की कल्पना ही असम्भव है, इसलिये माता का हमारे ऊपर बहुत बड़ा ऋण है । यथासम्भव अपनी माता की सेवा करके ही हम इस ऋण से कुछ हद तक उऋण हो सकते हैं ।

माता सदैव अपनी सन्तति पर वात्सल्य रखती है । स्वयं दुःख उठाकर भी अपनी सन्तति को सुख देना चाहती है । एक कहानी में इसका बड़ा सुन्दर दृष्टान्त मिलता है –

एक माँ थी और उसका लड़का था । माँ ने उसे बड़े प्यार से पाला-पोसा था । लड़का जब बड़ा हुआ, तो एक नवयुवती को अपना दिल दे बैठा । नवयुवती देखने में सुन्दर तो थी, पर स्वभाव से अति क्रूर भी थी । उसने विवाह के लिये इच्छुक नवयुवक के सामने एक शर्त रखी – वह उससे तभी विवाह करेगी, जब वह अपनी माँ का कलेजा लाकर उसके सामने रख दे । कामान्ध युवक ने शर्त मान ली और अपनी माँ का कलेजा चाकू से काटकर और उसे अपनी हथेली पर रखे उस नवयुवती की ओर चल पड़ा । जल्दबाजी के कारण उसे रास्ते में ठोकर लगी और वह गिर पड़ा । माँ का कलेजा छिटककर दूर जा गिरा । पर आश्चर्य की बात यह कि उस कलेजे से आवाज आयी – ''बेटा, कहीं तुम्हें चोट तो नहीं लगी ।'' अपने हत्यारे बेटे का भी दुःख माँ के लिए असह्य था । इसीलिए संस्कृत के किसी कवि ने कहा है – **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति** – अर्थात् पुत्र तो कुपुत्र हो सकता है, परन्तु माता कभी कुमाता नहीं होती । माता के हृदय की विशालता, पुत्र के प्रति उसका वात्सल्य उपरोक्त कथा का सार है और माता के सर्वोत्कृष्ट देवता होने का प्रमाण भी है ।

आदि शंकराचार्य अपनी माँ के परम भक्त थे । वे इतने धार्मिक स्वभाव की थीं कि वृद्धावस्था में भी प्रतिदिन पेरियार में स्नान के लिये जाती थीं । दूर होने के कारण नदी तक जाकर लौटते बड़ी थक जातीं । एक बार वे स्नान से घर लौटते समय रास्ते में गिरकर बेहोश हो गयीं । काफी देर तक माँ के न लौटने पर शंकर को चिन्ता हुई । खोजने निकले तो माँ रास्ते में बेहोश मिलीं । उनको बड़ा दुख हुआ । वे माँ को कन्धे पर लादकर घर लाये । उपचार के बाद कहीं माँ को होश आया । शंकर ने कहा कि यदि गंगा मेरे घर के पास से बहें, तो माँ को आने-जाने की कष्ट नहीं होगा । उनकी इच्छा मात्र से ही गंगा उनके घर के पास से बहने लगी । शंकर ने माँ की खूब सेवा-सुश्रूषा की और उनके आशीर्वाद से एक महापुरुष बन गये ।

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द ने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई । 'विवेक-ज्योति' में हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । – सं.)

११. दीक्षा

इस अप्रिय घटना के कम-से-कम छह महीने पूर्व रामानुज को और भी एक कठोर वेदना सहन करनी पड़ी थी । पुत्र-गतप्राण पतिपरायण कान्तिमती अपने पुत्र की माया काटकर पति-चरणों चली गयी थीं । श्री रामानुज की पत्नी जमाम्बा ही अब गृहिणी थीं । वे अत्यन्त रूपवती थीं । स्वभाव से पति-परायणा होने के बावजूद उनकी बाह्य आचारों के पालन तथा शारीरिक शुचिता की ओर अत्यधिक निष्ठा थी । तो भी वे यथासम्भव सेवा-सुश्रूषा के द्वारा पतिदेव को आनन्दित एवं सन्तुष्ट रखने का प्रयास किया करती थीं ।

श्रीरंगम से लौटने के बाद से ही रामानुज की गृहकर्म से पूर्ण उदासीनता देखकर जमाम्बा का हृदय वैसा प्रसन्न न था । परन्तु वे अपन [illegible] के भाव छिपाये रखने का विशेष प्रयास करती थीं । उनके हृदय में प्रज्ज्वलित रोषाग्नि को कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं मिल पाती थी ।

रामानुज अपना अधिकांश समय श्री कांचिपूर्ण के साथ बिताते थे । उनके चेहरे पर सदा उदासी छायी रहती थी, मन मे कोई आनन्द न था । कांचिपूर्ण ने यह देखकर एक बार उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा था, "वत्स, दुखी मत होओ । श्री वरदराज की भक्ति करो । जैसे प्रतिदिन उनकी सेवा के लिए जल लाते हो, वैसा ही करते रहो । उनकी कृपा से परम मंगल होगा । अलवन्दार का कार्य समाप्त हो गया है, इसीलिए वे श्री विष्णु के पादपद्मों में चिरविश्राम प्राप्त कर रहे हैं । तुमने उनके सम्मुख जो प्रतिज्ञा की थी, अब उसे पूरा करने के प्रयास मे लग जाओ ।" इस पर रामानुज बोले, "आप मुझे शिष्य बना लीजिए और अपनी पदछाया में विश्राम करने की अनुमति दीजिए ।" यह कहकर वे उनके समक्ष साष्टांग प्रणत हो गये । कांचिपूर्ण ने उन्हें उठाते हुए कहा, "तुम इतने व्यग्र मत होओ । तुम ब्राह्मण हो और मैं शूद्र हूँ । ब्राह्मण को मंत्रदान का शूद्र को अधिकार नहीं है । भविष्य में फिर कभी मुझे इस प्रकार प्रणाम मत करना । श्री नारायण शीघ्र ही तुम्हारे लिये गुरु भेजेगे, इसके लिए तुम चिन्तित मत होना ।" यह कहकर कांचिपूर्ण मन्दिर की ओर चले गये ।

रामानुज ने मन ही मन सोचा, "ये मुझे हीन अधिकारी समझकर कृपा नहीं कर रहे हैं । अस्तु, मैं उनका उच्छिष्ट ग्रहण करके स्वयं को पवित्र करूँगा । जो निरन्तर वरदराज के साथ विहार करते हैं, उनके जाति-कुल का भला क्या महत्व है? उनकी कटाक्ष से चाण्डाल भी ब्राह्मण की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है ।" यह सोचकर वे उस दिन सायंकाल कांचिपूर्ण के पास गये और अत्यन्त आग्रहपूर्वक अगले दिन अपने घर दोपहर के भोजन के लिए उन्हें आमंत्रित किया । कांचिपूर्ण ने उनका निमंत्रण स्वीकार करते हुए कहा, "कल मैं तुम्हारे जैसे परम भक्त का अन्न ग्रहण करके अपना रजस्तमोमय आवरण छिन्न कर डालूँगा और इससे श्रीमन्नारायण फिर कभी मेरी दृष्टि से परे नहीं हो सकेंगे । अहा! यह तो मेरा परम सौभाग्य है!"

रामानुज ने घर लौटकर गृहिणी से अगले दिन प्रात:काल उत्तम भोजन बनाने को कहा । उन्होंने महात्मा कांचिपूर्ण को निमंत्रित जो कर रखा था । जमाम्बा ने प्रात:काल उठकर स्नानादि समाप्त करके भोजन पकाना शुरू किया । एक प्रहर बीतते-न-बीतते उन्होंने अन्न के साथ विविध प्रकार के व्यंजन बना लिये । रामानुज यह देख अत्यन्त आनन्दित हुए और कांचिपूर्ण को लाने के लिए उनके आश्रम की ओर चल पड़े ।

इधर श्री वरदराज के सेवक रामानुज के मन का अभिप्राय समझकर दूसरे मार्ग से उनके घर जा पहुँचे और जमाम्बा को सम्बोधित करते हुए बोले, "माँ, आज मुझे जल्दी ही मन्दिर में पहुँचना है; जो कुछ बना हो, वही सन्तान को परोस दें । मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकता । आपके पतिदेव कहाँ हैं?" इस पर जमाम्बा ने कहा, "महाराज, वे आप ही की खोज में गये हैं, लौटते ही होंगे । थोड़ी-सी प्रतीक्षा कीजिए ।" कांचिपूर्ण बोले, "नहीं माँ, मै क्षण भर भी प्रतीक्षा नहीं कर सकता । मैं अपना पेट भरने के लिए प्रभुसेवा की अवहेलना नहीं कर सकता ।"

यह सुनकर जमाम्बा ने सोचा कि अतिथि कहीं लौटकर न चले जायँ और इस भय से उन्होंने चुपचाप कांचिपूर्ण को आसन तथा जल दिया और एक एक कर सभी चीजें परोसते हुए उन्हें अतीव सम्मानपूर्वक भोजन कराया । भोजन के पश्चात् कांचिपूर्ण ने जूठे पत्तल आदि स्वयं ही दूर ले जाकर फेंक दिये, उस स्थान को गोबर से लीप दिया और मुखशुद्धि ग्रहण करने के बाद जमाम्बा को साष्टांग प्रणाम करके वापस लौट गये । भोजन का बचा हुआ अंश किसी शूद्र को देकर गृहिणी ने बरतनों को माँज लिया और रसोईघर धोकर स्नान करने के पश्चात् पुन: पतिदेव के लिए भोजन बनाने में लग गयीं ।

रामानुज ने लौटकर देखा कि उनकी गृहिणी स्नान करके पुन: भोजन तैयार करने में लगी हुई है और पहले जो कुछ पकाया गया था, उसका कणमात्र भी नहीं बचा है । उन्होंने

विस्मित होकर पूछा, "श्री कांचिपूर्ण क्या आये थे? तुम भोजन पुन: क्यों बना रही हो? सुबह जो कुछ पका रही थी, वह सब कहाँ है?" जमाम्बा ने उत्तर दिया, "महात्मा कांचिपूर्ण आये थे । मैंने उनसे तुम्हारे लिये प्रतीक्षा करने का अनुरोध किया था, परन्तु उन्हें भगवत्सेवा के लिए मन्दिर जाने की जल्दी थी, अत: उन्होंने क्षण भर के लिए भी प्रतीक्षा करना स्वीकार नहीं किया; अत: मैंने तुम्हारा इन्तजार न कर, जो कुछ पकाया था, सब उन्हें दे दिया । अपना भोजन हो जाने पर उन्होंने स्वयं ही जगह की सफाई कर दी तथा मैंने भी जो कुछ अन्न-व्यंजन बचा था, उसे अपनी शूद्र पड़ोसन को दे दिया और अब पुन: स्नान करके तुम्हारे लिए भोजन बना रही हूँ । शूद्र के भोजनोपरान्त बचा हुआ भोजन भला तुम्हें कैसे दे सकती हूँ?" इस पर रामानुज अत्यन्त व्यथित हुए और बड़ी नाराजगी व्यक्त करते हुए बोले, "अरी मूर्खा, तुम्हें कार्य-अकार्य का कोई विवेक नहीं है । महात्मा कांचिपूर्ण के प्रति शूद्र के समान व्यवहार करके तुमने अति क्षुद्र चित्त का परिचय दिया है । उन महापुरुष का प्रसाद मेरे भाग्य में नहीं था । मैं नितान्त अभागा हूँ ।" यह कहते और खेद से सिर पीटते हुए घर के बाहर आकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गये ।

इधर कांचिपूर्ण वरदराज को पंखा झलते हुए कह रहे थे, "प्रभो, यह तुम्हारा कैसा व्यवहार है? कहाँ तो मैं तुम्हारी और तुम्हारे भक्तों की सेवा में जीवन बिताता, और उसकी जगह तुमने मुझे एक महापुरुष ही बना डाला? साक्षात् लक्ष्मण के अवतार श्रीमान् रामानुज मेरे सम्मुख साष्टांग प्रणाम करते हैं । मेरे जूठे भोजन के लिए लालायित होकर आज मुझे निमंत्रित किया था । कहाँ तो मैं तुम्हारी और तुम्हारे भक्तों की निरन्तर पूजा करूँगा और उसकी जगह मैं स्वयं ही पूजित होने चला? मुझे तो अब तिरुपति जाकर अपनी बालाजी मूर्ति की सेवा की अनुमति दो ।" वरदराज की अनुमति मिल गयी । कांचिपूर्ण ने तिरुपति जाकर बालाजी की सेवा में छह महीने बिताये । बाद में एक दिन नारायण ने उनसे कहा, "कांचिपुर में गर्मी की अधिकता से मुझे कष्ट हो रहा है । तुम वहीं जाकर मुझे व्यजन करो । इस पर कांचिपूर्ण पुन: कांचीपुर आ गये ।

इसी बीच रामानुज के एक तेल-स्नान के दिन आहार के अभाव से क्षीणकाय शूद्रदास उनके शरीर पर तेल मलने आया । उसे देखकर रामानुज के मन में करुणा का संचार हुआ । उन्होंने गृहिणी से कहा, "यदि कल का अन्न बचा हो, तो उसे इस निर्धन दास को दे दो । इसे देखकर लगता है कि इसने पिछले तीन-चार दिनों से भोजन नहीं किया ।" गृहिणी ने उत्तर दिया, "कल का खाना बिल्कुल भी नहीं बचा है । इतने सबेरे भोजन कहाँ से मिलेगा?" यह कहकर वे स्नान करने चली गयीं । श्री रामानुज को पत्नी के कथन पर सन्देह हुआ और उन्होंने भोजनालय में जाकर देखा कि बहुत-सा अन्न बचा हुआ है । वह सब तत्काल दास को देकर उसकी भूख मिटाने के बाद उन्होंने तेल मलने की अनुमति दी ।

कांचिपूर्ण तिरुपति से लौट आये हैं, यह सुनकर रामानुज उनका दर्शन करने गये । काफी काल बाद अपने परम मित्र से मिलकर उनके आनन्द की सीमा न रही । दोनों मित्रों ने एक-दूसरे से मिलकर परम शान्ति का अनुभव किया । विविध विषयों पर चर्चा के बाद रामानुज ने वरद-सेवक से कहा, "महात्मन्, कुछ शंकाएँ मेरे मन को निरन्तर उद्विग्न बनाये रखती हैं । आप यदि वरदराज से कहकर मेरे उन सन्देहों को दूर कर दें, तो मुझे शान्ति मिले । मुझे इस कारण बड़ा कष्ट हो रहा है । अपने दु:ख की बात आपको छोड़ और किससे कहूँ?" कांचिपूर्ण बोले, "मैं प्रभु के सामने यह बात रखूँगा ।"

अगले दिन रामानुज के आने पर कांचिपूर्ण बोले, "वत्स, पिछली रात श्री वरदराज ने तुम्हें वह बताने को कहा है –

अहमेव परं ब्रह्म जगत्कारणकारणम् ।
क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदः सिद्ध एव महामते ।।
मोक्षोपायो न्यास एव जनानां मुक्तिमिच्छताम् ।
मद्भक्तानां जनानां च नान्तिमस्मृतिरिष्यते ।।
देहावसाने भक्तानां ददामि परमं पदम् ।
पूर्णाचार्य्यं महात्मानं समाश्रय गुणाश्रयम् ।
इति रामानुजचार्याय मयोक्तं वद सत्वरम् ।।

– (१) मैं ही जगत्कारण प्रकृति का कारण परब्रह्म हूँ । (२) हे महामते, जीव तथा ईश्वर का भेद स्वत:सिद्ध है । (३) मुमुक्षु जनों के लिये भगवत्पाद-पद्मों में आत्मसमर्पण ही मुक्ति का एकमेव उपाय है । (४) मेरे भक्त यदि अन्तिम क्षण मेरा स्मरण न भी कर सकें, तथापि उनकी मुक्ति अवश्यम्भावी है । (५) देहत्याग होते ही मैं अपने भक्तों को परमपद प्रदान करता हूँ । (६) सर्वगुणसम्पन्न महात्मा महापूर्ण का आश्रय ग्रहण करो । मेरी कही हुई ये बातें शीघ्र जाकर रामानुजाचार्य को बताओ ।

ये बातें सुनकर रामानुज उन्मत्त के समान नृत्य करने लगे । उन्होंने वरदराज-मन्दिर की दिशा में साष्टांग प्रणाम किया । जिन छह शंकाओं ने उनके हृदय में अशान्ति का साम्राज्य स्थापित कर रखा था, वे पूर्ण रूप से उन्मूलित हो गयीं । इन सभी सन्देहों के बारे में उन्होंने कांचिपूर्ण को कुछ भी नहीं कहा था । ये महापुरुष वास्तव में वरदराज के मुखस्वरूप हैं – ऐसा समझकर मना करने के बावजूद वे उनके चरणों में दण्डवत् प्रणत हो गये और उठकर घर लौटने के स्थान पर, महापूर्ण से दीक्षा पाने के लिए श्रीरंगम की ओर चल पड़े ।

इधर अलवन्दार के तिरोभाव के बाद से श्रीरंगम के मठ में वैसे सुमधुर भाव से शास्त्रों के मर्मार्थ की व्याख्या करने में कोई भी समर्थ नहीं था । तिरुवरंग मठ के अध्यक्ष थे । वे परम भागवत् तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत थे, परन्तु शास्त्र-व्याख्या में वे उतने पटु न थे । उनका परम दास्यभाव देखकर सभी

मुग्ध हो जाते। किसी को आदेश देना तो दूर, वे सर्वदा ही दूसरों के आदेश पालन करने को व्यग्र रहते। उनके देवतुल्य स्वभाव ने सबको वशीभूत कर लिया था। विवाहित तथा अविवाहित दोनों ही प्रकार के भक्त मठ में रहा करते थे। विवाहितों की पत्नियाँ मठ के बाहर नगर में निवास करती थीं और बीच बीच में भक्तों की वन्दना करने वहाँ आती थीं। मठ में रहनेवाले भक्तगण भगवत-आराधना तथा उनके नाम-कीर्तन मे अपने दिन बिताते थे। इसी प्रकार लगभग एक वर्ष बीत गया। बाद में एक दिन तिरुवरंग ने सभी भक्तों को बुलवा कर कहा, "मित्रो, हमारे प्राणस्वरूप महात्मा यादवमुनि को परमपद में लीन हुए अब एक वर्ष हो गया। उनके प्रयाण के बाद से ही हम उस मधुर भाषा में भगवद-गुणानुकीर्तन तथा शास्त्र के गूढ़ मर्म की व्याख्या-श्रवण से वंचित रहे हैं, तथापि अब समझ में आ रहा है कि मेरे समान दुर्बल व्यक्ति के लिए इसका ठीक निर्वाह करना पूर्णरूपेण कठिन है। तुम लोगों को स्मरण होगा कि महामुनि ने देहत्याग के पूर्व श्रीमान् रामानुज का दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की थी और इसके लिए महापूर्ण को उनके पास भेजा था। मेरे विचार से वे शुद्ध-सत्त्व, पण्डित-प्रवर, कांचिपूर्ण-प्रिय यामुनमुनि-निर्वाचित महापुरुष ही यामुन मुनि का मत समग्र भारतवर्ष में प्रचारित करेंगे। समाधि के स्थान पर उनकी प्रतिज्ञा और मुनिवर का मुट्ठी खोलना मैं अब भी मानो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ।"

समवेत भक्तों ने यह सुनकर एक स्वर में इस मत का अनुमोदन किया और रामानुज का दीक्षा देकर श्रीरंगम लाने के लिए महापूर्ण को यह कहकर भेजा, "यदि देखना कि वे कांचिपूर्ण का संग त्यागकर अभी आने को अनिच्छुक है, तो उनसे आने के लिए जरा भी अनुरोध मत करना। शीघ्र हो या विलम्ब से, पर श्री रंगनाथ की इच्छा से उन्हें यहाँ आना ही होगा। तुम उन्हें तमिल-प्रबन्ध का अध्ययन कराकर उसमें विशेष पारंगत कर देना। इसके लिए तुम्हें कम-से-कम एक साल वहाँ रहना होगा। हमारी इच्छा है कि तुम अपनी सहधर्मिणी को भी साथ ले जाओ। उन्हें लाने के लिए ही तुम्हें भेजा गया है, इस बात का उन्हें बिल्कुल भी पता न चले।"

इस प्रकार निर्देश पाकर महापूर्ण ने सपत्नीक कांचीपुर के लिये प्रस्थान किया। दो दिन चलकर वे मदुरान्तक नगर मे जा पहुँचे। उस नगर के श्रीविष्णु-मन्दिर के सम्मुख एक बृहत् सरोवर है। उसी के तट पर वे अपनी पत्नी के साथ विश्राम कर रहे थे कि तभी उन्होंने देखा कि जिनके लिए वे मठ छोड़कर कांचीपुर जा रहे थे, जिनका दर्शन करने को उनके प्राण व्यग्र थे, उन्ही रामानुज ने स्वयं आकर उनकी चरण-वन्दना की। सहसा अपने प्रिय व्यक्ति को सामने पाकर वे आनन्द से आत्मविभोर हो गये। उन्होंने स्नेहपूर्वक रामानुज को प्रगाढ़ आलिगन करते हुए कहा, "वत्स, तुम्हे यहाँ देख पाने की मुझे जरा भी आशा नहीं थी। सब श्रीमन्नारायण की कृपा है। तुम्हारे यहाँ आने का क्या कारण है?" रामानुज बोले, "सचमुच ही यह नारायण की परम कृपा है। मैने आपके ही पादपद्मों के निमित्त कांचीपुर का त्याग किया है। विधाता ने अल्प प्रयास से ही उसकी प्राप्ति करा दी। श्री कांचिपूर्ण के मुख से साक्षात् वरदराज ने आपको ही मेरे गुरु के रूप में निर्धारित किया है। आप अविलम्ब मुझे दीक्षा देकर पवित्र करें।" महापूर्ण ने कहा, "चलो, हम सभी कांचीपुर जाकर वरदराज के सम्मुख यह शुभ कर्म सम्पन्न करे।" इस पर रामानुज बोले, महात्मन्, मुझे एक क्षण का भी विलम्ब रुचिकर नही प्रतीत होता।

स्वपन्तं वापि भुंजानं गच्छन्तमपि वर्त्मनि।
युवानमपि बालं वा स्ववशे कुरुते विधिः॥

– मनुष्य चाहे सोया हो या भोजन कर रहा हो अथवा सड़क पर चला जा रहा हो; वह युवक हो या बालक हो – मृत्यु उसे अपने वश में कर ही लेती है।

"बड़ी आशा के साथ मैं आपके संग यामुनमुनि का दर्शन करने गया था, परन्तु हाय, दुर्भाग्य ने मेरी वह आशा पूरी नहीं होने दी। इस समय भी उनका क्या भरोसा? अतः आप इसी क्षण मुझे अपने चरणों की छाया में आश्रय दीजिए।"

यह सुमधुर वैराग्यपूर्ण उद्‌गार सुनकर महापूर्ण को असीम आनन्द हुआ और उन्होंने श्रीविष्णु के समक्ष स्थित बृहत् सरोवर के किनारे बहु शाखा-प्रशाखा युक्त कुसुमित सौरभ-समाकीर्ण परम सुन्दर बकुल वृक्ष के नीचे हवन की अग्नि प्रज्ज्वलित करके उसमे धातु की दो मुद्राएँ स्थापित कीं। उनमे से एक मुद्रा पर चक्र का चिन्ह था और दूसरे पर शंख का। मुद्राओ के तप्त हो जाने पर महापूर्ण ने श्रौत मन्त्रों का उच्चारण करते हुए चक्रचिह्नित मुद्रा के द्वारा रामानुज की दाहिनी भुजा पर तथा शंखचिह्नित मुद्रा के द्वारा बाई भुजा पर छाप लगा दी और अन्त में अलवन्दार के चरणों का ध्यान करते हुए उनके दाहिने कान में वैष्णव मंत्र प्रदान किया। इस प्रकार दीक्षित होकर श्रीविष्णु की वन्दना करने के बाद रामानुज ने अपने गुरु तथा गुरुपत्नी के साथ कांचीपुर की यात्रा की।

महापूर्ण के शुभागमन का संवाद पाकर श्री कांचिपूर्ण उनका दर्शन करने आये। भक्तों के सम्मिलन से परम आनन्द का उदय हुआ। रामानुज के अनुरोध पर महापूर्ण ने उनकी पत्नी जमाम्बा को भी शंख तथा चक्र द्वारा दीक्षित किया। इस प्रकार पति तथा पत्नी दोनों ने ही दीक्षित होकर महापूर्ण के भोजन का बचा हुआ अंश प्रसाद रूप में ग्रहण किया। रामानुज ने अपने घर का आधा भाग महापूर्ण के निवास हेतु निर्दिष्ट कर दिया। महापूर्ण का सम्पूर्ण व्ययभार वे स्वयं वहन करने लगे और प्रतिदिन उनके चरणों में बैठकर तमिल-प्रबन्ध का अध्ययन करते रहे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

ईर्ष्या की वृत्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मानव-जीवन सुख और दुःख से भरा हुआ है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा, जिसके जीवन में केवल सुख-ही-सुख हो या कि दुःख-ही-दुःख। हाँ, यह बात सत्य है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। थोड़ा-सा सुख पाने के लिए हम कितना अधिक दुःख उठाते हैं, बहुधा उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। हमारे पास जब धन आता है, तो सुख होता है, पर इस सुख की संवेदना को पाने के लिए हमें कितने कष्ट उठाने पड़े, कितना श्रम करना पड़ा, यह हम भूल जाते हैं। यह बात हर सुख की संवेदना पर लागू होती ही। यदि हम तनिक गहराई से विचार करें, तो देखेंगे कि सुख की हर क्षणिक संवेदना के पीछे स्तूपाकार दुःख खड़ा है। और यह अनिवार्य है। सुख पाने के लिए, भले ही वह क्षणिक हो, हमें दुःख की प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। इसे हम अनिवार्य दुःख कह सकते हैं, क्योंकि उसके बिना हमें सुख की अनुभूति नहीं होती। जैसे, हम स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। तीस मिनट के रसना के आनन्द के लिए घण्टों पकाने की कष्टप्रद प्रक्रिया से गुजरना ही होगा। हमें सामान जुटाने का श्रम करना होगा, तो घर के लोग उसे साफ कर पकाने का श्रम करेंगे। चूँकि इसके बिना हमारा रोजमर्रे का काम नहीं चलता, इसीलिए इसे 'अनिवार्य दुःख' कहकर पुकारा गया है।

दुःख का दूसरा प्रकार वह है, जो हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है। हम उसे नहीं लाते, बल्कि वह स्वय आकर हम पर हावी हो जाता है। जैसे, हम रास्ते से जा रहे हैं और कोई वाहन आकर हमसे टकरा गया। हमारी हड्डी टूट गयी और हम महीनों प्लास्टर में बँधे पड़े रहे। या फिर हमें किसी रोग ने धर दबोचा। दुःख के ये रूप ऐसे हैं, जिन्हें हमने नहीं बुलाया था, पर जो खुद आकर हमें पीड़ित करते हैं। इनसे भी बचना कठिन कार्य है। कोई ऐसा व्यक्ति न होगा, जो ऐसे दुःख से पीड़ित न होता हो।

पर दुःख का एक तीसरा प्रकार भी है, जो न तो अनिवार्य है और न ही हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है, बल्कि जिसे हम स्वय ले जाते हैं। कोई प्रतिवाद कर सकता है कि क्या व्यक्ति खुद होकर अपने लिए दुःख लायेगा? परन्तु यह सत्य है, और वह है असूयाजनित दुःख। असूया मन की वह वृत्ति है, जो दूसरों के सुख को देखकर दुःख का अनुभव करती है। इसे बोलचाल की भाषा में हम ईर्ष्या या डाह भी कहते हैं। यह असूया बड़ी विचित्र है, यह अकारण ही जलाती है। इस दुःख के लिए मात्र हम ही जिम्मेदार होते हैं। हमने अपने पड़ोसी के यहाँ रेफ्रीजरेटर क्या देखा कि असूयावृत्ति हमारे भीतर जगकर हमें जलाने लगती है। यदि किसी को कीमती वस्त्र पहने हुए देख लूँ, तो इतने में ही भीतर की आग सुलग जाती है। यदि मेरा कोई परिचित अपने किसी प्रशसनीय कार्य के कारण जनप्रिय और यशोधन हो जाता है, तो वह मुझ सुहाता नहीं। यदि तपस्या, सयम और विद्वत्ता के लिए गुरु अपने किसी शिष्य के प्रति स्नेह दर्शाते हैं, तो दूसरे शिष्य असूया की अग्नि में जलने लगते हैं। यदि किसी को लाटरी मिल जाती है, तो मेरा हृदय कचोटने लगता है। यह डाह, यह ईर्ष्या, यह असूया हमारी अपनी जगायी हुई है। दुःख के प्रथमोक्त दोनों प्रकार तो आकर चले जाते हैं, पर यह असूया हमें सतत जलाती रहती है। इससे बचने का एक ही उपाय है – और वह है – **आत्मवत् सर्वभूतेषु** की वृत्ति को चेष्टापूर्वक अपने भीतर जगाने का अभ्यास, जो यह कहती है कि सबको अपने समान जानो, उनके दुःख को अपना दुःख समझो और उनके सुख को अपना सुख। ❖ ❖ ❖

प्राचीन भारतीय इतिहास पर नवीन आलोक (१)

डॉ. नवरत्न राजाराम

(विगत कई शताब्दियो के दौरान विश्व का सारा इतिहास यूरोपीय दृष्टिकोण से लिखा गया है । चूँकि इन दिनो यूरोपीय देश साम्राज्यवादी गतिविधियो मे लगे थे, अत: उनके द्वारा इतिहास की व्याख्या भी उनके इसी पूर्वाग्रह को व्यक्त करती है । यह बात भारत के प्राचीन इतिहास के सन्दर्भ में सर्वाधिक सत्य है । परन्तु आज पुरातत्त्व, खगोलशास्त्र, प्राचीन गणित, उपग्रह छायाचित्रण और पुराने अभिलेखो की निर्भीक व्याख्या के कारण हम प्राचीन इतिहास को समझने की बेहतर स्थिति में है । ये नई खोजें भारतीय परम्परा के वर्णनो का काफी समर्थन करती हैं । वे बताती है कि भारत में वैदिक संस्कृति की जड़े ई.पू. ७००० से भी पहले से है । अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि वैदिक युग का विकास पिछले हिमयुग के बाद हिमशिखरो के पिघलने के फलस्वरूप पैदा हुई विचित्र परिस्थिति-जन्य दशाओं की उपज थी । मिस्त्र, मेसोपोटामिया तथा सिन्धुघाटी के उत्थान से पूर्व ही वैदिक भारत एक प्राचीनतर तथा उत्कृष्टतर सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है । सिन्धु से गंगा तक विस्तृत मैदान प्रारम्भ से ही विश्व की इस आद्य सभ्यता की क्रीड़ाभूमि थी । इन खोजा के आधार पर रचित भारतीय तथा विदेशी विद्वानो द्वारा लिखित कई पुस्तके भारतीय तथा विश्व इतिहास की नई परिकल्पना प्रस्तुत करती है । प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर से नवम्बर १९९६ के अंको मे प्रकाशित हुआ था । यह दो ग्रन्थों का सार-संक्षेप है – पहली The Politics of History Aryan Invation Theory and the subversion of Scholarship लेखक की अपनी कृति है तथा दूसरी Vedic Aryans And the Origins of Civilization डेविड फ्राली के साथ संयुक्त रूप से लिखी गयी है । इस महत्वपूर्ण लेख का अनुवाद रामकृष्ण मठ, नागपुर के स्वामी राजेन्द्रानन्द जी ने किया है । — सं.)

प्राचीन भारत : पुराने सिद्धान्त और नये प्रमाण

प्राचीन भारत के इतिहास के बारे में एक विचित्र बात यह है कि इसके रचयिता भारतवासी या इतिहासज्ञ नहीं, बल्कि भाषाशास्त्री तथा ब्रिटिश अधिकारी है । यह न केवल भारतवर्ष के औपनिवेशिक अतीत का अवशेष है, अपितु उसके आधुनिक इतिहासकारों तथा शिक्षको की भूल भी है, जिसके कारण आज भी उपनिवेशवादी स्वार्थो तथा ईसाई धर्मप्रचारकों के पक्षपात का प्रतिनिधित्व करने वाला इतिहास ही यहाँ के शिक्षालयो में पढ़ाया जाता है । प्राचीन भारत से कोई नाता न रखते हुए भी, ये निहित स्वार्थ, यूरोपीय राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा अन्य कारण मिलित होकर षड्यंत्रकारी ढंग से इतिहास की व्याख्या करते हुए यह दावा करते है कि भारतवर्ष की सारी उपलब्धियाँ विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप है । हमे बताया जाता है कि इनमें सबसे पहला योगदान उन तथाकथित आर्यो द्वारा था, जो अपने साथ संस्कृत भाषा तथा विश्व का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ 'ऋग्वेद' लाये थे ।

इस आक्रमणकारी परिकल्पना का परिणाम न केवल भारत, अपितु पूरे विश्व-इतिहास के लिए दुर्भाग्यपूर्ण हुआ है । इस नकली आरोपण ने केवल भारत से ही नहीं, बल्कि सभी भारत-यूरोपियनो के साथ समान रूप से सम्बन्ध रखनेवाली उस अधिकांश परम्परा का नामो-निशान मिटा दिया है, जिसका सम्बन्ध भारत के वैदिक-आर्यकाल से लेकर आयरलैण्ड के केल्टिक-ड्रुइड्स-काल तक है । परन्तु प्राचीन भारतीय अभिलेखों के निष्पक्ष अध्ययन के साथ साथ बेहतर वैज्ञानिक ढंग से समझते हुए अब आखिरकार यह जानना सम्भव हो गया है कि मिस्त्र, मेसोपोटामिया तथा सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यताओ के उदय के पूर्व संसार कैसा था । यह आदिम संसार वह स्रोत था, जिससे एशिया तथा यूरोप मे निवास करनेवाला सम्पूर्ण भारोपीय (भारत-यूरोपीय) भाषा-परिवार उत्पन्न हुआ है ।

इतने काल बाद समुचित ऐतिहासिक दृष्टिकोण के बल पर अब यह स्पष्ट हो रहा है कि ब्रिटिश साम्राज्य को भारतवासियों के लिए ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से ही भारतीय उपलब्धियों को विदेशी आक्रन्ताओ द्वारा आयातित सिद्ध करने का प्रयास करते हुए इस प्राचीन इतिहास को दबा दिया गया या फिर ठीक ढंग से इस पर शोध नहीं किया गया ।

यहाँ तक कि हमारी प्राचीनतम उपलब्धि – 'ऋग्वेद' तक को स्वयं को आर्य माननेवाले विदेशी जाति के आक्रान्ताओं की रचना होने का दावा किया । उन आर्यो का मूल निवास भी मध्य एशिया अथवा यहाँ तक कि कहीं यूरोप में कल्पित किया गया । आर्यो के उद्भव की ऐसी व्याख्या के द्वारा भारत की समस्त उपलब्धिया का श्रेय विदेशी आक्रान्ताओ के नाम हस्तान्तरित कर दिया गया । बताया गया कि भारत पर यह आक्रमण ई.पू. १५०० के किंचित् बाद हुआ था ।

यह दावा भी किया गया कि इन आक्रान्ताओं ने प्राचीन विश्व की वृहत्तम मानी जानेवाली सिन्धु घाटी की सभ्यता तथा उसके निवासियों को पराभूत और नष्ट कर दिया । पर यह सहज ही समझा जा सकता है कि आधुनिक यूरोपियनो के मगज से उपजी इस आक्रमण पर आधारित परिकल्पना को भारतीय परम्परा तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों का जरा भी समर्थन नही मिलता । पर हमारे शिक्षालय पिछले सौ वर्षों से भी अधिक काल से इस विषय को जिस रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं; आइए, हम उसका थोड़े निकट से जायजा ले ।

आज भारतीय इतिहास के किसी भी ग्रन्थ को उठाने पर हम पाते है कि उसकी शुरुआत सिन्धुघाटी की सभ्यता के वर्णन से होती है । इसका प्रारम्भ हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नामक दो प्रमुख स्थलो की खोज के विवरण से आरम्भ होता है । तदुपरान्त वहाँ जो कुछ मिला है, उसका संक्षिप्त वर्णन

दिया होता है। फिर हमें बताया जाता है कि कैसे ये नगर जल-निकास और जल-आपूर्ति की पद्धति, उत्कृष्ट सार्वजनिक भवनो सहित सूझ-बूझ तथा योजनाबद्ध तरीके से बनाए गए शहरो से युक्त एक अत्यन्त उन्नत नागरी सभ्यता प्रदर्शित करते हैं। हमे यह भी बताया जाता है कि क्षय होते हुए लगभग ई.पू. २५०० तक यह सभ्यता सदा के लिए कैसे मिट गई। फिर बताया जाता है कि आर्य कहलानेवाले मध्य एशिया से आए खानाबदोश कबीलों द्वारा भारत पर आक्रमण ही इसके लोप का मुख्य कारण था। इस विवरण के अनुसार यह कहा जाता है कि ये आततायी आर्य उत्तर-पश्चिमी मार्ग से प्रविष्ट हुए तथा सिन्धु घाटी के निवासियों को युद्ध में हराकर उत्तर भारत के अधिकांश भाग में बस गए। फिर बताया जाता है कि उन्होंने अपने साहित्य की रचना की जिसमें ऋग्वेद सर्वप्रमुख है। इस आक्रमण के बाद आर्यो के विवरण सहित बड़ी गम्भीरतापूर्वक भारत का इतिहास आरम्भ किया जाता है।

इस घटनाक्रम को पढ़कर इतिहास के जिज्ञासु के मन में ऐसी धारणा होती है कि निश्चय ही आर्यो के आक्रमण का यह सिद्धान्त हड़प्पा आदि में हुई खुदाई के अध्ययन के प्राप्त पुरातात्त्विक खोजों पर आधारित होगा। परन्तु ऐसा बिल्कुल भी नही हैं, क्योंकि आर्यो के आक्रमण का सिद्धान्त दो सौ वर्ष पूर्व, पुरातत्त्व विज्ञान के अस्तित्व में आने के काफी पूर्व ही गढ़ लिया गया था। इस आक्रामक सिद्धान्त के समर्थकों का ध्यान अठाहरवीं तथा उन्नीसवी शताब्दी के यूरोप में प्रचलित धार्मिक तथा राजनैतिक धारणाओं, विशेषकर जर्मनी के राष्ट्रवाद की ओर जाता है। तत्पश्चात् भाषान्वेषकों ने इस बने-बनाए Race (नस्ल) के सिद्धान्त को भाषाई मोड़ दे दिया। इनमें सबसे प्रभावशाली जर्मन-भारतविद् फ्रेड्रिक मैक्समूलर थे, जो संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होकर भी विज्ञान के क्षेत्र में नितान्त अनाड़ी थे – इतने अनाड़ी कि उनका बाइबिल पर आधारित इस अन्धविश्वास पर पूर्ण विश्वास था कि विश्व की सृष्टि २३ अक्टूबर ४००४ ई.पू. को प्रात: नौ बजे हुई थी। मैक्समूलर तथा उन्हीं के समान अनाड़ी तथा अन्धविश्वासी भारतविदों से प्राप्त ऐसी विरासत के कारण ही कि आज भी पाठशालाओं में पढ़ाया जानेवाला भारतीय इतिहास इस तरह की अवैज्ञानिक विसंगतियों से भरा पड़ा है।

इस सिद्धान्त से जुड़े नस्लवादी तथा राजनीतिक पहलुओं पर हम थोड़ा बाद में विचार करेंगे, परन्तु उसके पहले इस सिद्धान्त के मूल उद्गम उस भाषाई रूप का थोड़ा अवलोकन करना उचित होगा। भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं के बीच मिलनेवाली निकट समानताओ के कारणों को यूरोपीय भाषाविदों ने सूत्रबद्ध किया है। १७८४ ई. में बंगाल के न्यायाधीश के रूप में सेवारत सर विलियम जोन्स का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि संस्कृत तथा यूरोपीय भाषाओं, विशेषकर प्राचीन उच्च साहित्यिक यूनानी भाषा में गहरी समानताएँ हैं। इसीलिए जोन्स को भारतविद्या का संस्थापक मानना उचित ही है, परन्तु इस समानता को पकड़ने वाले वे पहले आधुनिक विद्वान् नहीं थे। इसका श्रेय सम्भवत: फ्लोरेंस के व्यापारी फिलिप्पो ससेटी को जाता है, जिन्होंने गोवा में अपने पाँच वर्ष (१५८३-८८) के प्रवास के उपरान्त बताया था कि निश्चय ही संस्कृत और यूरोपीय भाषाओं के बीच कुछ आपसी सम्बन्ध है।

भले ही जोन्स इन समानताओं को जाननेवाले पहले व्यक्ति न रहे हों, परन्तु इसके विधिवत् तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में वे अग्रणी थे। उदाहरणार्थ 'ईश्वर' के लिए संस्कृत के 'देव' शब्द लैटिन में Deus (ड्यूस), इटैलियन में Dio (डियो), फ्रांसीसी में Dieu (ड्यू) तथा यूनानी में Theo (थियो) बन जाता है। वैसे ही संस्कृत का आग अर्थवाला 'अग्नि' शब्द लैटिन में Ignis (इग्निस्) बन जाता है; इसी से हम आजकल की अंग्रेजी भाषा के इग्नाइट तथा इग्नीशन शब्द पाते हैं। भाषाविदों की राय में इन भाषाई समानताओं का कारण यह है कि परस्पर सम्बन्ध रखनेवाली इन भाषाओं को बोलनेवाले तथा आज इण्डो-यूरोपियन कहलानेवाले सभी लोगों के पूर्वज एशिया तथा यूरोप के अनेक भागों में फैलने के पूर्व कभी एक ही स्थान पर निवास करते थे।

स्थानान्तरण या आक्रमण पर आधारित इस सिद्धान्त को प्रस्तावित करते समय भाषाशास्त्री कोई नया सिद्धान्त नहीं बना रहे थे, अपितु वे यूरोपियन राष्ट्रवादियों द्वारा प्रतिपादित आर्य नस्ल के सिद्धान्त को ही उधार लेकर उसे नये रूप में प्रस्तुत कर रहे थे। अत: यह दावा करना गलत है भाषाई आविष्कारों से आर्यो द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त का जन्म हुआ। फिर इन आर्य-आक्रमणकारियों का आदिनिवास भी मध्य एशिया या यूरोप में निर्धारित किया गया। यह बताया गया कि भारत पर आक्रमण करनेवाले आर्य 'भारोपीय' समुदाय की एक शाखा थे। मैक्समूलर ने कुछ भाषाई तथा साहित्यक तथ्यों के आधार पर इस आक्रमण की तिथि ई.पू. १५०० निश्चित किया, जो वस्तुत: उनके स्वयं के अन्धविश्वास के साथ तालमेल बैठाने के लिए थी, जिसके अनुसार बाइबिल में वर्णित और ई.पू. २४४८ में घटित मानी गयी जल-प्रलय की घटना के पहले आर्यो का आगमन नहीं माना जा सकता था। ईसाई मतानुसार ई.पू. ४००४ में संसार की सृष्टि मान लेने पर जल-प्रलय का समय ई.पू. २४४८ ही होता है। बाइबिल सम्बन्धी अपनी इन धारणाओं के अनुकूल बनाते हुए ही उन्होंने ई.पू. १२०० को ऋग्वेद का रचनाकाल निर्धारित किया था।

इस क्षेत्र में पुरातत्त्व-विज्ञान का पदार्पण अपेक्षाकृत देरी से ही हुआ। सिन्धु की एक उपनदी रावी के तट पर हड़प्पा के

खण्डहर काफी काल से विदित थे, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से पहली बार उनका समुचित मूल्यांकन तभी हुआ, जब १९२१ ई. में दयाराम साहनी ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि ये (खण्डहर) पूर्व-मौर्यकालीन हो सकते हैं। करीब एक वर्ष बाद एस. डी. बॅनर्जी ने उसके ४०० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित मोहनजोदड़ो में खुदाई की और सुझाया कि दोनों स्थल एक ही समय में फली-फूली प्राचीन सभ्यता के भाग हैं, परन्तु १९२४ में 'इलस्ट्रेटेड लण्डन न्यूज' में छपे जॉन मार्शल के लेख ने ही विश्व का ध्यान इन खोजों की ओर आकृष्ट किया।

इस खोज के बाद सभ्यता के बारे में बहुत-कुछ ज्ञात हुआ है। अब हम जानते है कि तथाकथित सिन्धु घाटी की सभ्यता का दस लाख वर्गमील के विशाल क्षेत्र में विस्तार, इसे प्राचीन विश्व की सबसे व्यापक सभ्यता सिद्ध करता है। हमें यह भी ज्ञात हुआ है कि सिन्धु घाटी के लोग सुमेरिया, मेसोपोटामिया आदि अन्य सभ्यताओं से व्यापार भी करते थे। अभी हाल ही में भूतपूर्व सोवियत संघ के मध्येशिया में स्थित तुर्कमेनिस्तान आदि गणतन्त्रो से हड़प्पाकालीन मोहरें तथा अन्य हस्तकौशल की वस्तुएँ मिल. हैं। प्रसिद्ध सागरीय-पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. एस. आर. राव द्वारा ल. ,,. न्दरगाह में खुदाई से प्राप्त जानकारी उन लोगों क नौ-परिवहन में कुशलता का प्रमाण देती हैं।

जब ये पुरातात्त्विक आविष्कार होने लगे, तब तक भाषाविदों में आर्यो के आक्रमण का सिद्धान्त घर किये लगभग एक सदी बीत चुकी थी। उन लोगों ने तत्काल इन खोजों का लाभ उठाते हुए इन खण्डहरों को आर्यों के आक्रमण का और भी स्पष्ट प्रमाण होने का दावा किया। अपने देवता इन्द्र के नेतृत्व मे आततायी आर्यो की लूटमार के कारण ही ये खण्डहर हुए हैं, ऐसा मानते हुए मार्टीमर ह्वीलर ने घोषणा की, "इन्द्र ही दोषी ठहरते है।" ह्वीलर भावुकतापूर्ण व्यक्तित्व तथा नाटकीय शैली के धनी थे और उनके अति संवेदनशील युवा अधीनस्थों ने भी उन्ही की अभिनय-शैली तथा वक्तव्यों का अनुकरण किया। अपने वक्तव्यो के बारे में उनका स्वयं भी मानना था कि उनका जो वास्तविक अर्थ रहता है, लोग उसे और भी बढ़ा-चढ़ा कर अति-गम्भीर अर्थ लगा लेते हैं। मुझे शंका है कि वर्तमान इतिहास इसी प्रकार बनाया गया है।

ऐसा भी दावा किया गया कि इस सभ्यता के मूल द्रविड़ निवासियों को आर्य आक्रान्ताओं ने खदेड़ दिया। हड़प्पा की खुदाई मे बहुत-सी ऐसी मुहरें मिली हैं, जिन पर कुछ लिखा हुआ है और यह दावा किया गया कि ये अभिलेख अवश्य ही आधुनिक तमिल से सम्बन्धित किसी द्रविड़ भाषा में हैं। पर इस पूर्वाग्रह के आधार पर फादर हेरस आदि के द्वारा इस लिपि से वैसा अर्थ निकालने का प्रयास पूर्णतः विफल रहा है।

अतः भाषाविदों के दावों के बावजूद ऐसा कोई पक्का साक्ष्य नहीं है, जो यह सिद्ध कर सके कि सिन्धु घाटी के लोगों की भाषा द्रविड़ थी। फिर यह भी मानी हुई बात है कि 'आर्य' एवं 'द्रविड़' भाषाओं का वर्गीकरण एक आधुनिक अकादमिक मान्यता है, जो पता नहीं कि हजारों वर्ष पहले की ऐतिहासिक वास्तविकता के साथ मेल खाएगी या नहीं। किसी भी द्रविड़ भाषा का अस्तित्व दो हजार वर्ष से अधिक होने का प्रमाण नहीं है, जबकि सिन्धु घाटी की सभ्यता की अधिकतर मोहरें चार हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी है। यही तथ्य दो हजार वर्ष का अन्तर कर देता है। फिर जैसा कि हर भारतीय जानता है, भारत की सभी भाषाएँ संस्कृत से काफी प्रभावित है और वस्तुतः उसी से उत्पन्न हो सकती हैं। अपवादों के बावजूद आज भी इतिहास की अधिकांश पुस्तकों में आर्यो के आक्रमण द्वारा सिन्धु घाटी की सभ्यता का नाश होना ही प्राचीन इतिहास की आधारशिला बतायी जाती है।

भारत में श्री एस. आर. राव तथा अमेरिका में श्री सुभाष काक तथा कुछ अन्य लोगों के कार्य के फलस्वरूप अब अधिकाधिक ऐसा जान पड़ता है कि हड़प्पा की मोहरें संस्कृत से सम्बन्ध रखती हैं। हाल ही के एक लेख में श्री एस. आर. राव तथा मैंने यह दिखाया है कि वैदिक भाषा तथा सभ्यता को आधार बनाकर हड़प्पा (सिन्धु घाटी) की अनेक मोहरों को पढ़ना सम्भव है। अब स्वतंत्र पुरातात्त्विक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि हड़प्पा की सभ्यता वैदिक काल के सूत्र युग से सम्बन्धित है। इस का अर्थ हुआ कि हड़प्पा की सभ्यता और वैदिक सूत्र युग का प्रारम्भ वैदिक युग के अन्तिम चरण में हुआ तथा दोनों का एक ही समय अवसान हुआ। दोनों एक ही वैदिक सभ्यता के अंश थे। आगे चलकर हम देखेंगे कि ई.पू. २००० के किंचित् बाद ही पर्यावरण में आये विश्वव्यापी परिवर्तन के फलस्वरूप उनका पटाक्षेप हुआ।

इतिहास की प्रचलित व्याख्या की ओर लौटने पर हम देखते हैं कि 'आर्यो द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त' का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि इसे बैठाने के लिए वैदिक साहित्य, विशेषकर ऋग्वेद के रचनाकाल सिन्धुघाटी की सभ्यता के बाद रखना जरूरी हो जाता है। हाल के वर्षो में पुरातत्त्व, प्राचीन अंकगणित, कम्प्यूटर, विज्ञान तथा खगोल शास्त्र आदि विभिन्न विषयो के विद्वानो द्वारा किये गये शोधों के फलस्वरूप अब आर्यो द्वारा हुए आक्रमण के बारे में और सिन्धुघाटी की सभ्यता को पूर्ववैदिक काल की माननेवाली व्याख्या के बारे में गम्भीर प्रश्न उठने लगे हैं। पुरातत्त्व तथा ऋग्वेद का विश्लेषण करते हुए और विशेष रूप से सरस्वती नदी के बारे में उनका जो मत है, उसी से शुरुआत करके हम इन विषयों पर संक्षेप में विचार कर सकते हैं। इससे प्रभावशाली ढंग से यह सिद्ध हो जाता है कि आक्रमण का सिद्धान्त कोरी कल्पना मात्र है।

आज हम गंगा नदी को पवित्र मानते हैं; पर वैदिक युग में वर्तमान पंजाब के पूर्व और गंगा-यमुना के पश्चिम से होकर बहनेवाली सरस्वती नदी को ही पवित्र माना जाता था।

ऋग्वेद के निम्नोक्त मंत्र में सरस्वती नदी को पवित्र माँ कहकर स्तुति की गई है —

अम्बतमे नदीतमे देवितमे सरस्वति

– माताओं में सर्वोत्तम, नदियों में सर्वोत्तम, देवियों में सर्वोत्तम, सरस्वती! ... (ऋग्वेद २.४१.१६)

इस प्रकार के और भी अनेक सन्दर्भ पूरे ऋग्वेद में बिखरे पड़े हैं। हाल के वर्षों में पुरातत्त्वविदों द्वारा व्यापक शोधों से पता चलता है कि सिन्धु-सभ्यता का केन्द्र सिन्धु नदी के तट पर नही, बल्कि अब सूख चुकी सरस्वती नदी के किनारे था। हाल ही में की गई एक गणना के अनुसार अधिकांशत: सरस्वती नदी के किनारे मिले एक हजार से भी अधिक बस्तियों के खण्डहर उपरोक्त वैदिक वर्णन की पुष्टि करते हैं। स्व. डॉ. वी. सी. वाकणकर द्वारा अनेक विषयों के विशेषज्ञों की टोली के साथ किया गया अनेक वर्षो का व्यापक शोध यह दर्शाता है कि सरस्वती नदी के बहाव में अनेक बदलाव आये थे और अन्तत: ई.पू. १९०० या उसके कुछ पहले वह सूख गई। उसके सूखने का मुख्य कारण उसकी अपनी दो प्रमुख सहायक नदियों – यमुना तथा सतलज के जल से वंचित होना था, क्योंकि इनमें से पहली तो गंगा में मिल गई तथा दूसरी सिन्धु में। इसके बाद आर्य सभ्यता का केन्द्र स्थानान्तरित होकर पवित्रतम मानी जानेवाली गंगा नदी के पूर्व की ओर चला गया। भरतवंशियों का राजनैतिक आधिपत्य भी सरस्वती नदी के मुख्य भू-भाग के पूर्व मगध मे स्थानान्तरित हो गया।

इन सारे घटनाक्रमों का उल्लेख उत्तर-वैदिक युग तथा उसके परवर्ती ब्राह्मणों तथा पुराणों जैसे ग्रन्थों में मिलता है। सरस्वती कभी एक विशाल नदी थी – ठीक वैसी ही, जैसी कि ऋग्वेद में वर्णित है। सिन्धु घाटी की सभ्यता के लिए यह नदी प्राणशक्ति होने के नाते इसे सिन्धु-सरस्वती-सभ्यता कहा जाना चाहिए। अब अमेरिका के भू-संवेदी उपग्रह लेन्ड्सैट तथा हाल ही में फ्रांसीसी उपग्रह स्पोट द्वारा लिये चित्रों ने इन पुरातात्त्विक खोजों की पुष्टि कर दी है।

इससे यह ज्ञात होता है कि वेदों में इतने विस्तार से वर्णित तथा पवित्रतम नदी के रूप मे पूजित, सरस्वती ई.पू. १९०० तक सूख चुकी थी। इससे आर्यों द्वारा आक्रमण के बारे में जो मूलभूत प्रश्न उठते हैं, उनमें पहला यह है कि जब सरस्वती लगभग ई.पू. १९०० तक सूख चुकी थी, तो फिर ऋग्वेद के रचयिताओं ने करीब ५०० वर्ष बाद भारत में आकर भी कैसे इस नदी का उसके पूर्व रूप में वर्णन कर दिया? इससे भी अधिक उलझाऊ प्रश्न यह उठता है कि आर्यों ने अपनी अधिकांश बस्तियाँ सिन्धु तथा उसकी पाँच सहायक नदियों को छोड़कर इस सूखी नदी के आसपास क्यो बसाई? अत: पुरातत्त्व विज्ञान का निर्णय स्पष्ट तथा असन्दिग्ध है – ऋग्वेद उस काल के भारत का वर्णन करता है, जब सरस्वती नदी भरी-पूरी थी। हजारो वर्गमील में फैली जिस विशाल सभ्यता को सिन्धुघाटी की सभ्यता का नाम दिया गया है, वह वास्तव में वैदिक आर्य सभ्यता थी। अत: आर्यों द्वारा आक्रमण तथा आर्य-द्रविड़ युद्ध का सिद्धान्त कपोल कल्पना है।

किस्सा यही समाप्त नहीं हो जाता। सरस्वती के प्रमाण को बिल्कुल अलग रखते हुए भी अब यह स्पष्ट हो गया है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो जैसे सिन्धुघाटी के स्थल आर्य-समूह के हैं। एक यही उदाहरण यथेष्ट होगा – ईरान की सीमा से लेकर पूर्वी उत्तर-प्रदेश तक फैले तथाकथित हड़प्पा के स्थलों में प्राप्त यज्ञ-शालाएँ या वैदिक बलि के स्थान दिखाते हैं कि वे लोग वैदिक यज्ञ-धर्म के ही अनुयायी थे। यज्ञवेदियों के ढाँचे तथा बनावट का वर्णन शुल्ब-सूत्र नामक वैदिक मूल के ग्रन्थों में मिलता है। ये विश्व के प्राचीनतम गणितीय मूल ग्रन्थ है, जिनमें वैदिक यज्ञ-वेदियों की बनावट का सविस्तार वर्णन है। अत: आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त से ऐसा बेतुका निष्कर्ष निकलता है कि यज्ञ-वेदियों के निर्माण के लिए निर्देश आततायी आर्यों द्वारा लाए गये। हमारे इतिहास-ग्रन्थों में पाई जानेवाली ऐसी अनर्गल विसंगतियों को विज्ञान न तो व्याख्या और न ही स्वीकृति प्रदान कर सकता है।

फिर 'वसिष्ठ का सिर' नामक धात्विक पुरावशेष की प्रसिद्ध खोज को ही लें। सैनफ्रांसिस्को के हैरी हिक्स नामक युवा अमेरिकी संग्राहक ने १९५८ ई. में अपनी भारत-यात्रा के दौरान, दिल्ली के पास सुन्दर कारीगरी से बने वैदिक आर्य-सिर को रद्दी धातु के साथ पिछलाए जाने से बचाने के लिए ही खरीद लिया। बाद के तीस वर्षों में हिक्स तथा अमेरिकी भौतिक-शास्त्री डॉ. रॉबर्ट एंडरसन ने इसके काल-निर्धारण हेतु इसे अमेरिका तथा स्विट्जरलैण्ड की अणु-भौतिकी प्रयोगशालाओं में इसकी काफी वैज्ञानिक जाँच करवायी। यह जानकर वे दंग रह गये कि इसकी ढलाई ईसा के ३७०० वर्ष पूर्व हुई थी अर्थात् आर्यों द्वारा भारत पर आक्रमण के अनुमानित समय से भी २००० वर्ष पहले! और बड़ी रोचक बात तो यह है कि यह सिर ऋग्वेद में वर्णित वसिष्ठ ऋषि के वर्णन से पूरा साम्य रखता है।

ऋग्वेद के अति प्रसिद्ध ऋषियों में गण्य वसिष्ठ को उसके सातवें मण्डल के ऋषि के रूप में जाना जाता है। वे सुदास नामक उन वैदिक राजा के मुख्य पुरोहित तथा सलाहकार थे, जिन्होंने ऋग्वेद में वर्णित दशराज्ञ युद्ध में दस राजाओं के महासंघ को पराजित कर दिया था। साहित्यिक, ऐतिहासिक,

धातुकर्मीय तथा खगोल-शास्त्रीय आधारों पर अब इस युद्ध का ममय ई.पू. ३७३० निर्धारित किया जा सकता है, जो वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित उसकी ढलाई के समय से भी मेल खा जाता है। चाहे तो कोई ऋषि वसिष्ठ के रूप में इस मूर्ति के पहचान के बारे में भले ही विवाद कर ले, परन्तु अमेरिका तथा यूरोप की सर्वोतम प्रयोगशालाओं द्वारा निर्धारित इसका काल तो निर्विवाद है। इस मूर्ति का अस्तित्व ही यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि तथाकथित सिन्धुघाटी की सभ्यता का उदय होने के काफी पूर्व ई.पू. ४००० मे ही वैदिक आर्य भारत में निवास कर रहे थे। वैदिक वाङ्मय के खगोलीय विवरणो से भी इस काल मे वैदिक आर्यो के भारत में उपस्थिति की पुष्टि होती है।

धातुनिर्मित वशिष्ठ का सिर

इस प्रकार पुरातत्त्व, अंकगणित, खगोल तथा धातुविज्ञान के आधार पर यह पक्के तौर से सिद्ध हो जाता है कि आर्य लोग ई. पू. ४००० के आसपास तक निश्चित तौर पर स्थाई रूप से बसे हुए थे। तब तक उनकी सभ्यता काफी विकसित हो चुकी थी। सिन्धुघाटी की सभ्यता वस्तुत: वैदिक युग के बाद पनपी और उससे कुछ निकृष्ट स्तर की होकर भी, कम-से-कम आध्यात्मिक दृष्टि से तो अवश्य ही यह उसी की अगली कड़ी थी। अत: द्रविड़ लोग वैदिक संस्कृति के ही एक अंश थे और आर्य-द्रविड़ संघर्ष एक ऐसी नवीन कल्पना है, जिसने केवल लोगों में फूट डालने का ही काम किया है परन्तु विश्व-इतिहास के लिए सर्वाधिक महत्व की बात यह है कि प्राचीन मिस्र, मेसोपोटामिया तथा सिन्धु घाटी की सभ्यताओं का उदय होने के पूर्व ही ऋग्वेद-कालीन सभ्यता अस्तित्व में आ चुकी थी। यह तथ्य मेसोपोटामिया को सभ्यता का उद्गम माननेवाली धारणा में पूर्ण संशोधन की अपेक्षा रखती है।

ऐसी परिस्थिति में, इस आर्यों द्वारा आक्रमण के सिद्धान्त पर आधारित इतिहास की वर्तमान व्याख्या क्यों पिछली एक शताब्दी से भी अधिक काल तक प्रचलित रही? वस्तुत: इसका पहला कारण तो यह है कि उन्नीसवी सदी के अधिकांश यूरोपीय लोग विज्ञान के बारे में बिल्कुल अनाड़ी थे, जिनमें अपने बाइबिल सम्बन्धी अन्धविश्वासो के चलते मैक्समूलर ही सबसे प्रमुख है। पर इससे भी बढ़कर मूलभूत कारण यह था कि औपनिवेशिक सत्ताधारियो का असली इरादा प्राचीन इतिहास की सच्चाई जानना कभी नही रहा। उन्हें भूतकाल के बारे में खोज करने के लिए पैसे नहीं दिये जाते थे। उनकी रुचि तो इस बात मे थी कि अपने राजनैतिक, व्यापारिक तथा धर्मप्रचार-सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कैसे इसका उपयोग किया जाय। और फिर उन पर जर्मन राष्ट्रवाद तथा जातिगत पक्षपात का भाव तो था ही। इसके फलस्वरूप यह इतिहास, विज्ञान या भारतीय अवशेषो पर वैज्ञानिक शोध के स्थान पर यूरोप के राजनीतिक तथा आर्थिक स्वार्थो से कहीं अधिक प्रेरित था। इस अद्‌भुत कथा पर हम अगले परिच्छेद मे प्रकाश डालेंगे।

❖ (क्रमश:) ❖
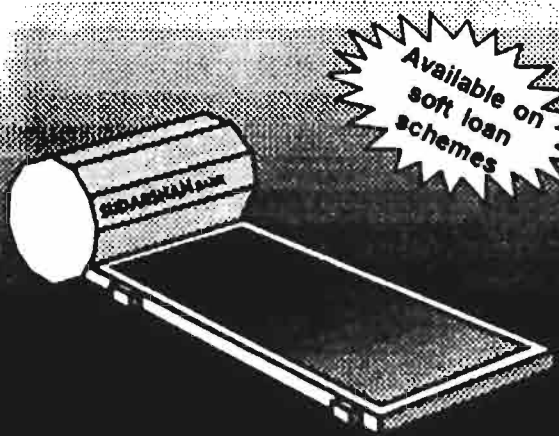
पुराण और मिथक

भैरवदत्त उपाध्याय

वराह अवतार की एक पौराणिक कथा है, जिसके अनुसार हिरण्याक्ष नामक दैत्य ने पृथ्वी को जलमग्न कर दिया था। भगवान ने वराह रूप धारण करके उस राक्षस का वध किया और जलमग्न पृथ्वी को उद्‌धृत कर जल के ऊपर स्थापित कर दिया।

इस प्रकार की अनेक कथाएँ पुराणों में वर्णित हैं, जिन्हें अंग्रेजी में 'मिथ' (Myth) कहा जाता है। हिन्दी में 'मिथक' व्यक्त होने लगा है, जो मिथ से ही गढ़ लिया गया है। वस्तुतः 'मिथ' को 'पौराणिक कथा' कहना समीचीन नहीं है, क्योंकि दोनों में सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। 'मिथ्स' देवकथाएँ तथा सृष्टि-उत्पत्ति की कथाएँ हैं, जबकि पुराण पचलक्षण तथा दशलक्षण प्रसिद्ध हैं। 'मिथ्स' से सामान्यतः ऐसी कथाओं को समझा जाता है, जो सर्वथा असत्य, कल्पित एव असभावित हैं। परन्तु मिथक वास्तव में वे सत्य, पवित्र एव आदर्श कथाएँ हैं, जो ऐतिहासिक तथा प्राक्-ऐतिहासिक यथार्थता की पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। वे ऐसी जटिल कथाएँ हैं, जिनमें प्रतीक एव रूपक शैली में मानवीय, अतिमानवीय तथा प्राकृतिक घटनाओं का इतिहास मिलता है। वे 'सामूहिक अचेतन मन' से निसर्गतः उद्‌भूत निर्वैयक्तिक भाव-कथाएँ हैं। वे मानवीय बुद्धि एव संवेगों के सहज रूप हैं और मानव के भौतिक तथा मानसिक व्यवहार हैं, जिनमें वह अपने आपको स्वभावतः प्रक्षेपित (Project) करता है। वे प्राकृतिक तत्त्वों एव आन्तरिक भावों के मूर्तीकरण और मानवत्वारोपण की मानव की सहज शक्ति (Reflex-power) से प्रस्फुटित है, उसकी धार्मिक, सामाजिक तथा आन्तरिक चेतना का सपोषण करनेवाली, वे ऐसी अलौकिक, दिव्य, प्रतीकात्मक, रूपकात्मक एव सत्य-सप्लावित कथाएँ हैं, जिनसे वह सदैव अनुशासित रहता है। आदिम मानसिकता ने मिथक का अन्वेषण नहीं किया, बल्कि इसकी अनुभूति की है। मिथक भौतिक प्रक्रिया में रचित रूपक हैं, जिनमें बहुत बड़ा अर्थ सगुम्फित है।

मिथक समाज को अति-प्राकृतिक भीतियों और भौतिक वातावरण की तर्जनाओं और समाज-विपरीत तनावों से व्यवस्थित सरक्षण प्रदान करते हैं। वे समाज को उसके जीवन और सस्कृति के अर्थ का बोध कराते हैं और मूलभूत आस्थाओं, धारणाओं तथा मूल्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे सामाजिक तथा सास्कृतिक प्रतिमानों को स्वनिश्चित कर समाज को स्थिरता, स्थायित्व और स्तर प्रदान करते हैं। वे धर्म तथा सस्कृति को ठोस आधार प्रदान कर साहित्य, सगीत एव कला को प्रेरणा, सामग्री और चेतना प्रदान कर उपजीव्य की आसन्दी को भी अलकृत करते हैं। साहित्य में मिथकों के माध्यम से सूक्ष्मतम भावों को अभिव्यक्त किया जाता है, जिससे ऐतिहासिक सन्दर्भों को नई व्याख्या मिल जाती है, भाषा सशक्त लाक्षणिक अभिव्यक्ति वाली सक्षम और सुगठित हो जाती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – ''मिथक भाषा की अपूर्णता को भरने का प्रयास है। भाषा बुरी तरह अर्थ से बँधी हुई है। उसमें स्वच्छन्द सचार की शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती जा रही है। मिथक स्वच्छन्द विचरण करता है, आश्रय लेता है भाषा का, अभिव्यक्त करता है भाषातीत को।'' मैक्समूलर ने उसे 'भाषा का मल' कहा है, जो आदिम युग में आविर्भूत हुआ है और परवर्ती युग में भाषा की जटिलता के कारण जिसका मूल अर्थ भुला दिया गया है।

मिथक 'जातीय स्वप्न' तथा 'जातीय चरित्र' हैं। वे जाति का मानसिक जीवन हैं। जब जाति मिथकों की पारम्परिक थाती को खो देती है, तब वह अनेक खण्डों में विभाजित होकर विनष्ट हो जाती है। प्रत्येक व्यक्ति में वैज्ञानिक प्रतिभा (Scientific faculty) के साथ मिथकीय प्रतिभा (Mythical faculty) भी विद्यमान है। अतः उनके सृजन की प्रक्रिया निरन्तर गतिशील रहती है। इस प्रकार उनका वर्तमान और भविष्य सुरक्षित है। आज वे उपेक्षा के विषय नहीं है, अपितु चिन्तन, मनन और पुनर्व्याख्यान के महत्वपूर्ण बिन्दु हैं। इनका वैज्ञानिक अध्ययन अपेक्षित है। ❑
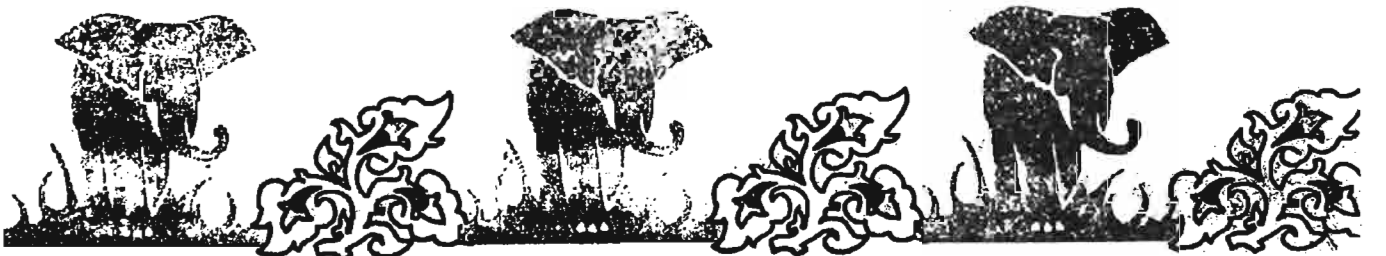
श्रीरामकृष्ण-पोथी

मूल – श्री अक्षय कुमार सेन अनु. – रामकुमार गौड़

(भगवान श्रीरामकृष्ण देव के एक गृही शिष्य श्री अक्षय कुमार सेन ने उनके जीवन पर बँगला में एक महाकाव्य लिखा था। जो पिछले सौ वर्षो से बंगाल मे अत्यन्त लोकप्रिय है। इसका हिन्दी में काव्यानुवाद करने में लगे है श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी, वाराणसी मे अनुवादक के रूप में कार्यरत हैं। प्रस्तुत है कुछ अंश – सं.)

श्रीप्रभु की जन्मकथा

जय जय रामकृष्ण जय ठाकुर, परमहंस वांछा-सुरतरु।
जय जय हे परब्रह्म परात्पर, जय जय प्रभुवर जग के गुरु॥
रामकृष्ण के सब भक्तों की, जय हो, जय हो सदा प्रखर।
भक्तवृन्द की चरणरेणु को माँगूँ अधम दीन बनकर॥
बंगप्रान्त में हुगली जनपद उसमें कामारपुकुर सुग्राम।
सदाचार-रत विप्रवंश में प्रकट हुए श्रीप्रभु सुखधाम॥
पूज्य पिताश्री खुदीरामजी, शुद्ध विप्र चट्टोपाध्याय।
तेजस्वी दृढ़निष्ठाचारी, श्री हरिभक्त वचन-मन-काय॥
धर्माचरणलीन रहकर वे, करते अपने कर्म समस्त।
तीर्थाटन जप-तप-पूजारत, कुलगत धर्म-कर्म में व्यस्त॥
सर्वाधिक दूरस्थ तीर्थ जो, सेतुबन्ध श्रीरामेश्वर।
दृढ़निष्ठावश पैदल जाकर, किये तीर्थ निर्भय अन्तर॥
अतिशय न्यायपरायण द्विजवर, परम धार्मिक, सदा सुधीर।
रामभक्त रह घर में पूजें, शालऽग्राम नाम रघुवीर॥
उनके गृह मे करती थी, दो दिव्य मूर्तियाँ और विराज।
एक शीतला माता देवी, थे दूसरे धरम महराज॥
तीनो दिव्य मूर्तियो की नित पूजारत रहते खुदिराम।
सिद्धवाक् द्विज कहकर उनकी दूर दूर तक ख्याति तमाम॥
अगणित लोककथाएँ उनकी कहते सदा ग्रामवासी।
आज्ञा से ही बेला डाली खिलते पुण्य गन्धराशी॥
बड़े सबेरे पूजा के हित, पुष्प चयन करने जब तात।
घर से बाहर कदम बढ़ाते, पीछे चले शीतलामात॥
आराध्या शीतलामातु जो, सुन्दर ग्रामबालिका बन।
उनके पीछे पीछे जाती, पथ विचरण कर हर्षित मन॥
तन पर शोभित दिव्य आभरण, सदा शुभ्र रक्तिम परिधान।
डाल झुकाकर स्वयं हाथ मे, देती द्विजवर को सम्मान॥
कुसुमित पौधो की डाली से, तोड़ें द्विजवर पुष्प अनेक।
मन मे दिव्यानन्द विराजे, ईश्वर-तन्मय क्षण प्रत्येक॥
ब्रह्म शक्ति परिपूर्ण अलौकिक, तेजस्वी तनु नित अभिराम।
दरस मात्र से होती श्रद्धा, भक्ति स्वयं प्रकटे निष्काम॥
यद्यपि अतिशय निर्धन थे वे, घर मे रहता अधिक न धन।
केवल सदाचार के कारण, पदपूजा करते जन जन॥
घर के सम्मुख जिस पुष्कर में, नित करते द्विजवर स्नान।
उनके बाद ही सभी नहाते, रख उनके प्रति अति सम्मान॥
स्वाभाविक ही निष्ठाचारी थे वे तेजस्वी ब्राह्मण।
शुद्रदत्त भिक्षा या धन को करते नहीं कभी धारण॥
गैरिक वस्त्र पहनने पर वे लगते थे गम्भीराकार।
कभी व्यर्थ ही गेह किसी के, जाते नहीं एक भी बार॥
व्याधिनाश होती पदरज से, जानें सभी ग्रामवासी।
कंपित उर से चरणयुगल को छूकर मुदित ग्रामवासी॥
ग्राम-मार्ग पर वे जब चलते, नतमस्तक होते सब लोग।
अन्तर में रख भाव नम्रता, साष्टांग करते सब लोग॥
परम दयालु हृदय था उनका, और बहुत ही मधुभाषी।
सरल उदार क्षमामंडित रह, विप्रतुल्य सद्गुनराशी॥
जैसे थे सद्गुणागार वे, वैसी ही भार्या उनकी।
देहगठन से ही लगती थी, मूर्तिमान ज्यों करुणा ही॥
भूख-प्यास से व्याकुल होकर, जो भी जाता उनके द्वार।
जो कुछ घर मे रहता उसको, अर्पित करती सहित दुलार॥
ऐसी सरल उदार हृदय वे, दीप्तिमान मानो निशिदिन।
निश्छल मन से आत्मलीन रह, निज धन को भी सके न गिन।
परहित-चिन्तन में रत रहकर, करती नित अकपट आचार।
अनुपम और अलौकिक गुण सब, वर्णन मे कवि जाता हार॥
सभी सद्गुणो की वे जननी, इसीलिए तो उनके घर।
धरती भार हरन को आये, श्रीप्रभु विप्रदेह धर कर॥
प्रभु की परमाराध्या जननी, चन्द्रामणि उनका शुभनाम।
मेरी दादी-माँ वे लगती, बालचित्त सम मन अभिराम॥
कोटि प्रणाम दण्डवत् मेरा, दादी-माँ के चरणों में।
बड़ा खेद मै देख सका ना, बैठ न पाया चरणों में॥
सबके आगे हाथ जोड़कर, परम विनम्र भाव रखकर।
दादी-माँ की पावन पदरज, माँगे दास दीन बनकर॥
दादी-माँ के भाग बड़े थे, वर्णन में कवि जाता हार।
तीन सुपुत्रो की माता वे, था स्वभाव मृदु और उदार॥
रामकुमार ज्येष्ट सुत उनके, मँझले थे श्री रामेश्वर।
पुत्रो मे सबसे कनिष्ठ थे, श्रीप्रभु सबके परमेश्वर॥
दो कन्याओ मे थी ज्येष्ठा, देवी कात्यायनी उदार।
सर्वमंगला देवी उनमे परम कनिष्ठा प्रीति अपार॥
रामकुमार ज्येष्ठ सुत जो, उनके श्रीअक्षय ही नन्दन।
मृदुल किशोर आयु मे उनका चला गया यह नरजीवन॥

मध्यम सुत श्री रामेश्वर के थे दो पुत्र नन्दिनी एक ।
रामलाल, शिवराम पुत्र थे लक्ष्मी देवी पुत्री नेक ।।
इतने सब लोगों को देखा इष्टदेव का जो परिवार ।
सबके पद-कमलों में करता हूँ प्रणाम मैं बारम्बार ।।
ऐसी अद्‌भुत बात कभी ना, सुन पाया था यह संसार ।
दादी-माँ के पुण्य उदर से, जैसे जन्मे प्रभू उदार ।।
गया धाम को प्रभु के पूज्य पिताश्री जब पहुँचे इक बार ।
जन्मकथा का सूत्र वही से प्रकट हुआ, सुन्दर सुखसार ।।
खुदीराम द्विजवर ने देखा, एक रात अद्‌भुत अति स्वप्न ।
जिसे देखकर भक्तिभाव से, ईश्वरलीन हुआ तन मन ।।
धरकर रूप चतुर्भुज श्रीहरि, नवदुर्वादल श्यामल तन ।
प्रकटे श्री हरि उनके सम्मुख, देख विप्रवर प्रमुदित मन ।।
मन्द हास्य सह बोले श्रीहरि, 'खुदीराम, हे सद्‌गुणग्राम ।
होकर पुत्र जन्म लूँगा मैं, तेरा गृह होगा मम धाम' ।।
उत्तर में तब बोले द्विजवर, 'हे प्रभु मेरे जीवनधन ।
अतिशय निर्धन हूँ मैं स्वामी, कैसे होगा तव पालन' ।।
पुनः कह उठे श्रीहरि उनसे, 'चिन्ता तुम न करो कुछ भी ।
जगपालक हूँ मैं कहलाता, अपना कर लूँगा निज ही ।।
इतना ही कहकर पलभर में, अन्तर्धान हुए भगवान ।
श्री श्रीहरि के शुभ दर्शन को व्याकुल द्विजवर के मन-प्राण ।।
खुदीराम की निद्रा टूटी, काँप रहा था उनका गात्र ।
सोये सोये देख रहा था, यह तो निशि का सपना मात्र ।।
अपने मन ही मन में द्विजवर, करते अगणित बार विचार ।
यह कैसी ईश्वर की माया, मर्मभरा यह स्वप्न स-सार ।।
इधर ग्राम के गृह में भी कुछ ऐसी घटना घटती ।
दादी-माँ कर रही बात थीं, नारित्रय संग बैठीं ।
मन्दिर एक पुराना शिव का, था उनके घर के ही पास ।
उससे निकला वायुरूप कुछ, पैठा दादी-माँ के गात ।।
भय-चिन्ता के साथ बताया माँ ने, तीनों लौटीं घर ।
फैली बात तुरत यह, चर्चा होने लगी ग्राम घर घर ।।
विविध प्रसंग चला घर घर में करते लोग परस्पर बात ।
चकित चित्त से मौनभाव से अपने सदन खड़ी रही मात ।।
नारित्रय के बीच एक थीं धनी लुहारिन भाग्यवती ।
आगे इनका वर्णन होगा ये अतिशय सौभाग्यवती ।।
भक्तचित्त अति हर्षित होता देख लुहारिन का यह भाग्य ।
उनकी पदरज मिल जाये, तो मानूँ मैं अपना सौभाग्य ।।
श्रीप्रभु से वात्सल्य प्रेम वे रखतीं भावप्रवण होकर ।
कैसा अनुपम भाग्य सभी का, प्रभु की कृपा हुई जिन पर ।।
जो जगवन्दन त्रिभुवनपालन, वांछा-कल्पवृक्ष सुखधाम ।
दीनानाथ पतितपावन जो, सकल जगत् के गुरु अभिराम ।।
वे ही करते माँ सम्बोधन, बनीं लुहारिन भिक्षा-मात ।
अधमदास यह मातृचरण-रज माँगे व्याकुल मन दिन-रात ।।
वर्ण जाति निज कुलाचार का किया तनिक भी नहीं विचार ।
जो अतिप्रिय श्रीरामकृष्ण का, पूज्य सभी का वही उदार ।।
ब्राह्मण पूत कुलोद्‌भव होकर भी यदि कोई प्रभु द्वेषी ।
घोर अधम, चाण्डाल सदृश वह, बनता है सब जगद्वेषी ।।
पिण्डदान कर गया धाम में, वापस घर आये खुदिराम ।
दादी-माँ ने उन्हें बताई, घटना अद्‌भुत दिव्य ललाम ।।
निज सपने की बात यादकर, भार्या से बोले खुदिराम ।
यह सब कहना नहीं किसी से, ईश्वर की लीला अभिराम ।।
अनुदिन बढ़ता गर्भ मातु का, कान्तियुक्त श्री मुखमण्डल ।
ग्राम-नारियाँ देख देखकर, बातें करतीं भरते जल ।।
श्रीमुख की लावण्य छटा वह अनुपम और अलौकिक दिव्य ।
आत्मस्थित रहने के कारण तनछवि सभी अभौतिक दिव्य ।।
भावविभोर सदा रहती वे भूल जगत् की बातों को ।
कहती ग्रामनारियाँ मिलकर, भूल गयीं क्या नातों को ।
सुन्दर रूप छटा सब तन की देख नारियाँ कहती सब ।
ब्रह्मदैत्य पकड़ा है इसको, ऐसा ही लगता है अब ।।
कोई कोई यह भी कहती, गर्भस्थित शिशु बहुत बड़ा ।
बचने में है संशय भारी, मन में होता द्वन्द्व बड़ा ।।
दादी-माँ की हालत ऐसी, मानो भूत लगा उनको ।
कभी त्रास, उल्लास, सदा हरिलीन रखें उनके मन को ।।
कोई कोई यह भी कहती, सरल हृदय निश्छल होकर ।
पति-संसर्ग रहित थीं वे तो, फिर क्या हुआ प्रविष्ट उदर ।।
गर्भकाल में दादी-माँ ने, देखी सुनी दिव्य घटना ।
सभी असम्भव अद्‌भुत बातें, वर्णन करे कवी कितना ।।
गर्भकाल की दिव्य कथाएँ सुन माता का मन नन्दित ।
अगणित देव-देवियों की छवि-दर्शन कर वे आनन्दित ।।
गर्भवास में बढ़ते शिशु का चौथे मास हुआ परवेश ।
तभी घटी वह अद्भुत घटना, समय रात्रि का प्रकट निशेश ।।
करके बन्द कपाट सदन का, सोयी थीं माँ बिस्तर पर ।
जाग उठीं तत्काल वहीं वे, सुमधुर नूपुर-ध्वनि सुनकर ।।
कौतूहलवश कान लगाकर, सुनने लगीं ध्यान देकर ।
बजती ही वह रही निरन्तर, नूपुर की ध्वनि अति सुमधुर ।।
होकर अति आश्चर्यचकित तब, सोचा अपने मन-ही-मन ।
घर मे सुमधुर नूपुर ध्वनि का हो सकता है क्या कारण ।।
बन्द कपाट किया था घर का, मैंने देख सदन निर्जन ।
ऐसा लगता अनजाने में, घुसा सदन में कोई जन ।।
मन में ऐसा सोच समझकर, देख लिया तब खोल कपाट ।
किन्तु सदन तो निर्जन ही था, देखी निज घर की सब खाट ।।
सहज मौन धारण करके तब, कभी किसी से कही न बात ।
पति के घर आने पर ही, उनको बतलाई सारी बात ।।

घर मे सुमधुर नूपुर की ध्वनि कैसी, क्यों थी, पता नही ।
उर में विस्मय यही बड़ा है, नही दिख पड़ा कोइ कही ।।
भार्या कथित अलौकिक घटना, सुना विप्र ने लेकर थाह ।
नही बताना इसे किसी को, निज भार्या को दिया सलाह ।।
अतिशय मंगलकारी है, यह घटना दिव्य, करो मत भय ।
शांतिकुंज में अपने समझो, बालचन्द्र का हुआ उदय ।।
एक दिवस निद्रा में माँ को, दीख पड़ा सपना अद्भुत ।
अनुपम दिव्य सुकोमल बालक, उनकी गोदी मे शोभित ।।
वक्षस्थल पर चढ़कर वह शिशु, गला पकड़ता छोटे हाथ ।
दिव्य हास्य शोभित अधरद्वय, मुखमण्डल ज्यों राकानाथ ।।
कितनी ही बाते करता वह, सुभग तोतली भाषा में ।
सहसा गिरा गोद से बालक, डूबी मातु निराशा में ।।
यही देखते चौंक उठीं वे, निद्राभंग हुई तब ही ।
कहाँ गया वह बालक अनुपम, गोद में था अभी अभी ।।
स्वप्नदृष्ट यह अद्भुत घटना, सोचा तब अपने मन में ।
आँखो मे प्रेमाश्रु आ गये, पुलक हुआ पूरे तन में ।।
दादी-माँ ने देखे अगणित दिव्य रूप कवि सके न कह ।
अगणित विद्युत् छटा सदन में माँ के नेत्र सकें नहिं सह ।।
कभी कभी अनुभव होता था, सुरभित चन्दन चारों ओर ।
मानो चन्दन से ही निर्मित, सदन सुगन्धित चारों ओर ।।
किसी किसी दिन दिव्य गंध का, अनुभव होता था घर में ।
मानो पंकजवन सुरभित हो, चारों ओर सरोवर में ।।
इसी तरह से दिवस बीतते, दशम माह में हुआ प्रवेश ।
दादी-माँ का प्रसवकाल तब हुआ उपस्थित, प्रकट दिनेश ।।
एक प्रहर दिन का जब बीता, दादी-माँ ने कहा तभी ।
तन अतिशय अवसन्न लग रहा, प्रसवकाल आ गया अभी ।।
सुनकर खुदीराम तब बोले, क्या कहती हो, अभी अरे –
नही हुई सम्पन्न देव की पूजा, जो कबहूँ न टरे ।।
भोग-राग ठाकुर का करके, हृदय मध्य कर उनका ध्यान ।
तभी सूतिकागृह में जाना, होवे जब दिन का अवसान ।।
खुदीराम की इच्छा पूरी हुई, हुआ जब दिवावसान ।
सन्ध्याकाल द्वितीया तिथि को, हुई चाँदनी अति द्युतिमान ।।
धान कूटने का जो घर था, ढेंकीशाला जिसका नाम ।
बना सूतिकागार उसी में, प्रकटे बालरूप घनश्याम ।।
बँगला सम्बत बारह सौ था, उसमे और बायालिस साल ।
मास फाल्गुन, शुक्लपक्ष, बुधवार द्वितीया तिथि शुभकाल ।।
शुभ लग्नो मे करके स्थित रवि, बुद्ध चन्द्र ग्रहों को तब ।
वसुधातल अवतीर्ण हुए प्रभु, भक्तो को सुख देने अब ।।
लीलामय, लीलाप्रिय श्रीहरि, लीला करने के ही हेतु ।
बार बार इस मृत्युलोक में, आते वे पालक श्रुतिसेतु ।।
धराधाम पर जन्मग्रहण से शुरू हुई लीला उनकी ।
अद्भुत और अलौकिक लीला कर हरते पीड़ा जन की ।।
ढेंकी के पिछले तल में था, गर्त एक जहँ श्री श्री प्रभु ।
सद्योजात रूप शिशु का धर, रोदन करते, होकर विभु ।
उसी सूतिकागृह मे बैठी धनी लुहारिन बनकर धाय ।
शिशु का रोदन सुनकर दौड़ी आयी बनकर अति असहाय ।।
शिशु रोदन सुनि महानन्द में धनी लुहारिन खोज करे ।
ढूँढ़े उसे सूतिकागृह में देखि न शिशु तहँ मन मे डरे ।।
होकर अति आश्चर्यचकित तब रही खोजती चारों ओर ।
मिला तभी ढेंकीशाला में गर्त मध्य में वह चितचोर ।।
दीर्घाकार परम शिशु देखी धनी लुहारिन धाय ।
चंद्रज्योति से भी अनुपम वह, शिशुतनज्योति भक्तमन भाय ।।
तभी बुलाया धनी धाय ने, खुदीराम द्विजवर सादर ।
अनुपम शिशु का जन्म हुआ है, चलिए अभी सूतिकाघर ।।
जल्दी से तब आये द्विजवर, करे निरीक्षण बारम्बार ।
दिव्य सुलक्षण, अनुपम बालक अंगकांति-सौन्दर्य अपार ।।
गद्गद गिरा हुई द्विजवर की, पुलकित रोम रोम तन में ।
अपलक दृष्टि लगाकर देखा, प्रमुदित होकर निज मन में ।।
रखो छिपाकर अद्भुत शिशु को, बोले द्विजवर हर्षित मन ।
नजर कही लग जाय न इसको, कर दो आवृत शिशु का तन ।।
देख-देखकर शिशु-मुख कोमल मातुपिता को परमानन्द ।
मानो रह आनन्दसिन्धु में हर्षित तन मन दिव्यानन्द ।।
ग्राम नारि-नर जो भी देखे, चर्चा करते सब घर घर ।
मानो हुआ पूर्ण चन्द्रोदय, चन्द्रामणि के पावन घर ।।
सुनकर मंगल-गान सदन में, आसपास के नर-नारी ।
आये शिशु-दर्शन को सुन्दर रूप देख हो बलिहारी ।।
निज नयनो से देख मनोहर शिशु, तनकांति एक ही बार ।
दिवारात्रि देखे बालक को, मन में आये यही विचार ।।
क्रमशः आने लगी नारियाँ, आस-पास की द्विजवर घर ।
चन्द्रा शिशुमुख देख-देखकर अद्भुत सुख पातीं अन्तर ।।
परमानन्दित ग्राम नारि-नर, देख दिव्य शिशु की मुस्कान ।
क्यों इतना आनन्दित तन मन, पाता नहिं कोई सन्धान ।
आपस में करतीं सब बातें, ग्राम-नारियाँ विस्मित मन ।
हमने तो देखा न सुना है, अनुपम शिशु सुन्दर तन-मन ।।
कैसा शुभदर्शन है यह शिशु, देख तुरत हो मन शीतल ।
नग्नकाय फिर भी मानो, मणिरत्न सुसज्जित तन निर्मल ।।
वैसे तो हमने देखे हैं, निज जीवन मे बाल अनेक ।
बैठ देखते रहे निरन्तर, अभिलाषा हो मन प्रत्येक ।।
आसपास के गाँव गाँव में, फैल गयी चर्चा निश्छल ।
अनुपम सुन्दर शिशु का मुख तो, चन्द्रमोति से भी निर्मल ।।
झुण्ड झुण्ड में ग्रामनारियाँ, आती करने शिशु दर्शन ।
चन्द्रवदन शिशु देख-देखकर, अतिशय प्रमुदित होती मन ।।

इस शुभकाल में खुदीराम के, घर में नित नूतन मंगल ।
दिन दिन अर्थलाभ बढ़ता था, ज्यों पावसऋतु गंगाजल ।।
भौतिक धन-सम्पत्ति विप्र की, थी अनधिक फिर भी निराश ।
दो बीघे से भी कम ही था धान्यक्षेत्र निज घर के पास ।।
लक्ष्मीजला नाम उसका था, खुदीराम का खेत पुरान ।
पावस ऋतु से पहले उसमें, द्विजवर रोपा करते धान ।।
जय ठाकुर रघुवीर बोलकर, करके निज प्रभु का गुणगान ।
अभिमुख हो ईशान कोण में, निज कर से द्विज रोपें धान ।।
इस छोटे से भूमिखंड में, जो कुछ पैदा होता धान ।
उससे ही खर्चा चलता था, करते इष्टदेव गुणगान ।।
द्विजवर के इस पावन कुल का, था इक और आय-साधन ।
कुछ धनाढ्य ब्राह्मण स्वेच्छा से, देते थे उनको कुछ धन ।।
सदाचार-रत सत्यनिष्ठ जो, धर्मव्रती द्विज परम उदार ।
मास मास में देकर कुछ धन, कम करते थे व्यय का भार ।।
फिर भी ग्रहण न करते थे वे, जिस तिस ब्राह्मण का भी धन ।
उस ब्राह्मण का कभी न लेते, करते थे जो शूद्र-यजन ।।
फिर भी कोई कष्ट नही था द्विजवर को अपने घर में ।
जैसे-तैसे मिलकर खाते, थे दस जन शुभ परिसर में ।।
थोड़ा थोड़ा अन्नभोग भी पाते इष्टदेव रघुवीर ।
भिक्षाटन हित नित आते थे, साधू, नागा, अतिथि, फकीर ।।
ग्राम प्रशस्त मार्ग पर स्थित था, वह द्विजवर का अपना घर ।
उसी मार्ग से आते-जाते, अतिथि साधु संन्यासीवर ।।
उसी मार्ग से जगन्नाथ को आते-जाते यात्रीगण ।
क्षुधा-तृष्णा से व्याकुल होकर, करें अन्न-जल सदा ग्रहण ।।
यद्यपि थे निर्धन ब्राह्मण वे, फिर भी अति करुणामय चित्त ।
मिट्टी का साधारण घर था, जो पुआल से आच्छादित ।।
छोटे छोटे कमरे थे, पर बड़ा नहीं उनका परिसर ।
संख्या में भी अधिक नहीं थे, तीन कक्ष का पूरा घर ।।
उनमें से ही एक कक्ष में, थी उनकी ढेंकीशाला ।
वही धान्य-संग्रह होता था, सुन्दर पर्णों की शाला ।।
वह पुआल आच्छादित छप्पर था, द्विजवर का वास सदन ।
जिसे देखकर ही लगता था, मानो कोई दीन-सदन ।।
फिर भी विप्र-सदन से होता, शुद्धभाव का नित संचार ।
दरस मात्र से ही रम जाता, जन जन का मन-प्राण उदार ।।
अति सुरम्य तरु-लता-गुल्म थे, द्विजवर-गृह के चारों ओर ।
मानो किसी तपस्वी ऋषि का आश्रम फैला चारों ओर ।।
शुद्ध-भावमय शांतिदायिनी, द्विजवर की वह कुटी प्रशान्त ।
भूख-प्यास से व्याकुल पथिकों, के तन मन करती शान्त ।।
आये द्विजवर के परिसर में, पथिकों को जब लगती प्यास ।
पीकर शीतल जल, तरुछाया से करते स्वक्लान्ति का नाश ।।
द्विजवर अति आनन्दित होते, करके पथिकों का सत्कार ।
अन्नग्रहण बिन नहीं छोड़ते, पथिकों को अति हृदय उदार ।।
घर की ऐसी दशा आर्थिक, और अथितियों को सत्कार ।
कैसे खर्चा चलता घर का, समझ न आवे मर्म अपार ।।
हो सकता कैसे अभाव है उनको, जिनके सुत भगवान ।
है कुबेर जिनके खजांची, लक्ष्मी सेवा करें अमान ।।
आसपास के ग्राम नारि-नर, मात-पिता समझे नहिं सार ।
कैसी अनुपम लीला करते, शिशु रूपी भगवान उदार ।।
शिशु रूपी प्रभु को ले करके, एक दिन आयी दादीमात ।
सूर्य ताप सेवन करने हित, अपने गोद सुलाई मात ।।
विश्वम्भर आवेश हो गया, शिशु रूपी भगवन के गात ।
अंकस्थित शिशु भारी लगता, सोचे निज मन-ही-मन मात ।।
भार असह्य हुआ जब तब, रख दिया सूप में बालक को ।
चड़ चड़ करने लगा सूप तब, देख चकित माँ बालक को ।।
यह क्या! यह क्या! कहकर तब ही, करने लगी मातु रोदन ।
फिर भी निश्चल सुस्थिर वह शिशु, तन में जरा न स्पन्दन ।।
उठा सूप से निज गोदी में, रखने के हित बारम्बार ।
करती रही प्रयास निरर्थक, दादी-माँ हरिचरित अपार ।
किसी भाँति भी उठा सकी नहि, शिशुतन का वह भार अपार ।
रोने लगी तभी दादी-माँ, व्याकुल मन हो बारम्बार ।।
जो जैसे था, वह उठ भागा सुन दादी-माँ का रोदन ।
शीघ्र जुट गयी भीड़ अपरिमित, सभी देखते विस्मित मन ।।
कहा सभी से दादी-माँ ने, बालक क्यों लगता भारी ।
उठा सूप से गोदी लेने में, हारी मैं बेचारी ।।
एक बड़ा-सा वृक्ष नीम का, है जो मेरे घर के पास ।
पकड़ा शिशु को ब्रह्मदैत्य ने, करता जो उस तरु पर वास ।।
ग्रामजनों का अभिमत लेकर, करके मन ऐसा अनुमान ।
ओझा को लाने के हित तब, भेज दिया इक पुरुष सुजान ।।
अगणित मंत्रोच्चारण करके, फूंके ओझा शिशु शुभकाय ।
बोला गोद उठा लो बालक, हल्का हुआ शुभ्र शिशु काय ।।
और एक दिन बिस्तर पर रख शिशु को गई मातु निज काम ।
बिस्तर के सन्निकट एक था, चूल्हा जहाँ न आग का नाम ।
आग नहीं थी उस चूल्हे में, किन्तु ताप था उसके पास ।
तब बालक की रही अवस्था, केवल दो या तीन हि मास ।।
खुद ही सरक सरक कर बालक, गिरा भूमि पर बिस्तर से ।
आधा तन चूल्हे में औंधा, आधा दिखता बाहर से ।।
शिशु के तन की कान्ति मनोहर, चन्द्रज्योति से भी निर्मल ।
अनुपम रूप देख बलिहारी, भक्ताचित्त गिरता भूतल ।।
जल्दी से दादी-माँ आयीं, देख चकित थीं शिशु का हाल ।
मेरी आँखों का प्रिय तारा, चूल्हे में गिरकर बेहाल ।।
करने लगी करुण क्रन्दन तब, शिशु को गोदी में लेकर ।
क्यों लगता है दीर्घकाय यह, बालक चूल्हे में गिरकर ।।

मैं तो चली गयी थी इसको, सुला बिस्तरे के अन्दर ।
कौन गिराकर भाग गया है, शिशु को चूल्हे के भीतर ।।
बिस्तर पर रखकर तो मैने, देखा था छोटा शिशु तन ।
कैसे हुआ दीर्घतर शिशु यह, समझ न आता कुछ कारण ।।
ऐसा कहकर आर्तनाद सह, करने लगी मातु रोदन ।
सुनकर दौड़ी धनी लुहारिन, आयी तत्क्षण उसी सदन ।।
दृढ़ स्वर में तब धनी धाय ने, कहा सुनो चन्द्रामणि मात ।।
किस कारण से यहाँ अमंगल, होगा तनय सुलक्षण गात ।।
दे दो, दे दो मुझको यह शिशु, नजर लगी इसके तन मे ।
मंत्र फूंककर सकल अमंगल, नाश करूँ मै क्षण भर में ।।
इतना कहकर गोदी में ले, किया दिव्य मंत्रोच्चारण ।।
पुन: हो गया पहले जैसा, वह शिशु मानो साधारण ।।
कौन नारि यह धनी लुहारिन, ठीक यशोदा के अनुरूप ।
श्रीप्रभु की शिशुलीला मे ही, मिलती है यह नारि अनूप ।।
खुदीराम के विप्रसदन मे, शिशु रूपी भगवान उदार ।
करते नित अनुपम शिशुलीला, जिसे देख मन पद-बलिहार ।।
श्रीप्रभु की यह शिशुलीला है, अद्भुत अकथ और दुर्बोध ।
मातु-पिता नर-नारि पड़ोसी, चकित देखते बाल अबोध ।।
क्रमश: दिवस व्यतीत हुए कुछ, चार मास का बीता काल ।
घटना घटी तभी अद्भुत, शिशु बन करते हरि जगप्रतिपाल ।।
कुछ घर-बार कार्य के चलते, जननी गयी अन्य के घर ।
पाँच मास के सुन्दर शिशु को, सुला दिया निज बिस्तर पर ।।
वापस आकर जब देखा तो, मिला न निज बालक उस पर ।
सोया कोई और वहाँ था, दीर्घकाय-सा दिखता नर ।।
चिल्ला कर तब दादी-माँ ने, कहा उच्च स्वर द्विजवर से ।
जल्दी आकर यहाँ देखिये, कहाँ गया शिशु बिस्तर से ।।
दीर्घकाय नर कौन सो रहा मेरे शिशु के बिस्तर पर?
कौन गया लेकर मेरा शिशु, बोलो बोलो हे द्विजवर?
भय-चिन्ता से व्याकुल होकर, आये खुदीराम निज घर ।
पत्नी के संग जल्दी आकर, देखा उसी कक्ष-भीतर ।
सोकर क्रीड़ा करता बालक, देख मातु-पितु प्रमुदित मन ।
गोद उठाकर प्रेमपूर्वक, लगीं चूमने बाल-वदन ।।
चकित देखकर निज भार्या को, बोले खुदीराम द्विजवर ।
जो कुछ देखो वही सत्य है, कारण उसके लीलाधर ।।
कभी न कहना ये सब अद्भुत बातें ग्राम-नारि-नर से ।
यह सब सम्भव केवल हरि से, सम्भव कभी नही नर से ।।
यह सब श्री रघुवर की लीला, अद्भुत दिव्य और सुखधाम ।
अकथ और अनुपम सब लीला, चिन्तन से मन हो निष्काम ।।
भूल गया ऐश्वर्य उसी क्षण, पुत्रप्रेम मन हुआ उदय ।
स्नेहपूर्वक बार बार मुख चूमे मातु-पिता सहृदय ।।

तीव्र स्नेह के वशीभूत हो, मातु चूमती वदन-कमल ।
आखों से प्रेमाश्रु-धार, वक्षस्थल पर गिरता अविरल ।।
छठें मास के शुभ दिन घर में, हुआ अन्नप्राशन संस्कार ।
बहती रही रात-दिन द्विजवर के घर में सुख गंगाधार ।।
घर में थी अतिशय निर्धनता, किन्तु आज का दिन पावन ।
चर्व्य, चोष्य औ लेह्य, पेय सब, बने चार विधि के व्यंजन ।।
ग्राम जाति कुल के सब ब्राह्मण आस पास के नारी-नर ।
भिक्षुक वैष्णव विविध जाति के लोग जुटे द्विजवर के घर ।।
भेदभाव के बिना सभी ने इच्छा भर खाये व्यंजन ।
कुल ठाकुर रघुवीर कृपा से, शिशु का हुआ अन्नप्राशन ।।
खुदीराम के विप्रसदन में जैसी बहती सुख जलधार ।
है किसमें सामर्थ्य कहे जो, वर्णन में कवि जाता हार ।
रघूवीर के अन्नभोग का, मिला सभी को दिव्य प्रसाद ।
इच्छा भर खा तृप्त हुए सब, मिटा प्राण-मन का अवसाद ।।
रूपराशि शिशु परम मनोहर, बालरूप हरि जगदाधार ।
अंग अंग सब रूप विराजे, मानो ननमणि काऽलंकार ।।
नूतन वस्त्र-आभरण शोभित शिशुरूपी प्रभु के नरकाय ।
मस्तक-चन्दन तिलक विराजे, गले हार शोभा अधिकाय ।।
चन्दनचर्चित कोमल शिशु की, तनशोभा हरती भवत्रास ।
मुक्ता-मणि बहुविध आभूषण, दीप्तिहीन थे उसके पास ।।
अनुपम सुन्दर शिशु है फिर, वह अभी हुआ चन्दनचर्चित ।
जो भी देखे, नेत्रलाभ कर, रहता निश्चय ही विस्मित ।।
मुखमण्डल का दृश्य अलौकिक, देवजनों को भी दुर्लभ ।
नर-नारी कामारपुकुर के, पाते वह सुख सहज सुलभ ।।
क्रमश: काल व्यतीत हुआ कुछ, आया नामकरण का काल ।
मन में सोच रहें माता-पितु, क्या कहलाये यह शुभ बाल ।।
शंख-चक्र औ पद्म-गदाधर रूप चतुर्भुज हरि-दर्शन ।
करके गयाधाम में द्विजवर, ने पाया अनमोल रतन ।।
कारण यही रखा द्विजवर ने, नाम गदाधर भगवन्नाम ।
स्नेहसहित नित कहें गदाई, सदा पुकारें पावन नाम ।।
हुए बाद में रामकृष्ण वे, गुरुप्रदत्त यह अनुपम नाम ।
परमहंस श्रीरामकृष्ण है, विश्व-विदित मनभावन नाम ।।
कलि में महिमा राम-कृष्ण की, अनुपम हैं ये दोनों नाम ।
इनसे मिलकर बने नाम का, वेद न कर पाते गुणगान ।।
प्राणिमात्र के पारसमणि वे, भुक्ति-मुक्ति करते नित दान ।
जन्म जन्म से प्रीति करे जो, वह तो है अति सुभग सुजान ।।
सदा चाहता रति-मति अपनी, रामकृष्ण के पावन नाम ।
दे दो दीन को करुणा-भिक्षा, बालरूप है प्रभु छबिधाम ।
और एक भिक्षा मै माँगू, सिर पर धरो कृपा का हाथ ।
हृदय-कण्ठ-मन में बस करके, लिखवा दो पोथी श्रीनाथ ।।

श्रीरामकृष्ण मठ

मयलापुर, चेन्नै - ६०० ००४

फोन - ४९४१२३१, ४९४१९५९, फॅक्स : ४९३४५८९

Website : www.sriramakrishnamath.org

email : srkmath@vsnl.com

प्रिय बन्धु,

स्वामी विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशों से प्रत्येक अध्येता के लिये विवेकानन्दार इल्लम एक ऐतिहासिक भवन तथा पावन तीर्थ है। उन्होंने इस भवन में पूरे नौ दिन निवास करते हुए बहुत-से आगन्तुकों से भेंट की, भजन गाये, प्रार्थना की और ध्यान किया। यह स्थान अब भी उनकी तथा दिव्य उपस्थिति से स्पन्दित है।

आपको ज्ञात होका कि स्वामी विवेकानन्द एक शताब्दी पूर्व - १८९७ ई की फरवरी में चैन्नै के इस भवन में पधारे थे, जो उन दिनों आइस हाउस या कैसिल कर्नन के नाम से प्रसिद्ध था। उन्होंने इसमें ६ से १४ फरवरी तक निवास किया तथा भारत के पुनर्निर्माण हेतु भावोद्दीपक भाषण दिये, जो अब 'भारतीय व्याख्यान' नामक पुस्तक में उपलब्ध हैं।

यह भवन दक्षिणी भारत के सर्वप्रथम रामकृष्ण मठ का भी आश्रय रहा है। स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई तथा एक महान् सन्त स्वामी रामकृष्णानन्द के तत्त्वावधान में १८९७ ई. से १९०६ ई. तक इसी भवन में रामकृष्ण मठ चलता रहा।

इस भवन का जीर्णोद्धार करके इसमें 'स्वामी विवेकानन्द तथा भारतीय संस्कृति' पर एक स्थायी प्रदर्शनी बनाने हेतु तमिलनाडु सरकार ने यह भवन हमें लीज पर दे दिया है। भवन के जीर्णोद्धार का कार्य पूरा हो चुका है और तमिलनाडु के माननीय मुख्यमंत्री के हाथों २० दिसम्बर १९९९ को इस प्रदर्शनी का प्रथम चरण का उद्घाटन किया गया। इस प्रथम चरण की परियोजना पर रु. ६५ लाख का खर्च आया है। द्वितीय तथा तृतीय चरण के कार्य शीघ्र ही आरम्भ होनेवाले हैं, जिन पर रु. ८५ लाख का व्यय होने का अनुमान है। इस प्रदर्शनी के रख-रखाव के लिए भी रु. ५० लाख का एक स्थायी कोष बनाने की आवश्यकता होगी।

अब तक हम दान के द्वारा केवल रु. १५ लाख ही एकत्र कर सके हैं। आपसे अनुरोध है कि इस पुण्य कार्य में उदारतापूर्वक सहयोग करके आप श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी के आशीर्वाद के भाजन बनें। सभी प्रकार के दान आयकर से मुक्त हैं। कृपया क्रास किये हुए चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, चेन्नै' के नाम से भेजें।

मानवता की सेवा में आपका,

स्वामी गौतमानन्द

अध्यक्ष